कहानियाँ

ज्ञान-गङ्गा

—सुदर्शन सिंह 'चक्र'

ज्ञान-गंगा

[गीताके पन्द्रहवें अध्यायका कहानी भाष्य]

लेखक —

श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'

प्रकाशक—

श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ,

मथुरा—२८१००१

प्रथम संस्करण—३००० प्रतियाँ
१६ अक्टूबर १९७८ ई०,
(शरदपूर्णिमा)

मूल्य— रु० ४।५० पैसे
चार रुपये पचास पैसे

मुद्रक—

राष्ट्रीय प्रेस, डेम्पियर नगर, मथुरा ।

विषय-सूची

—×—

अपनी बात—

मैंने 'कल्याण' में पहिले योगदर्शनके यम-नियमके दस सूत्रोंपर कहानियाँ लिखीं। उन्हींके क्रममें गीताके बारहवें अध्यायके बीस श्लोकोंपर बीस कहानियाँ लिखी गयीं और वे सब 'कल्याण'में प्रकाशित हुईं। अब उनका संग्रह 'भक्ति-भागीरथी' नामसे श्रीकृष्ण जन्म-स्थान सेवासंघ करने जा रहा है।

गीताके पन्द्रहवें अध्यायके बीस श्लोकोंपर भी बीस कहानियाँ लिखी गयीं। इनमें-से तीन-चारको छोड़कर शेष सब 'कल्याण'में क्रमशः प्रकाशित हुईं। अब उन बीस कहानियोंका यह संग्रह 'ज्ञान-गङ्गा' आपके हाथमें है।

गीता जैसे ग्रन्थके श्लोकोंका कहानी भाष्य लिखनेपर कहानियाँ सरल नहीं हो सकती थीं। दार्शनिक तथ्योंको स्पष्ट करनेमें कहानी क्लिष्ट हो जाती है। इसीलिए आगे गीताके श्लोकोंपर कहानी लिखनेका यह क्रम चल नहीं सका।

हिन्दीके लिए यह सर्वथा नवीन बात थी कि किसी सूत्र या श्लोकको कहानीके द्वारा समझाया जाय। जो बात लेख या व्याख्यामें, भाष्यमें स्पष्ट की जाती है, उसे घटनाका रूप दे दिया जाय। इससे तथ्य सुबोध एवं हृदयंगम हो जाता है। लेकिन जैसे यह क्रम नवीन था, वैसे ही यह समाप्त भी हो गया, जब मैंने बन्द कर दिया। दूसरे किसी लेखकने यह शैली अपनायी नहीं अथवा अपनाने योग्य नहीं मानी।

बहुत अधिक पाठकोंने इन कहानियोंकी प्रशंसा की। 'कल्याण' में मैंने गीताके श्लोकोंपर कहानियाँ लिखना बन्द किया तो अनेकोंने क्षोभ प्रकट किया। कुछने तो मुझसे मिलकर अनुरोध किया कि यह क्रम चलता रहे; किन्तु स्थिति ऐसी नहीं थी कि क्रम आगे चल पाता।

गीताके पन्द्रहवें अध्यायका कहानी भाष्य है यह 'ज्ञान-गङ्गा'; इसमें घटनाके द्वारा श्लोकोंके तात्पर्यको स्पष्ट करने-समझा देनेका प्रयत्न किया गया है। आशा है इससे आपको गीता समझनेमें सरलता हो जायगी।

श्रीकृष्ण जन्मस्थान, मथुरा
श्रावण शुक्ल पञ्चमी
९-८-१९७८

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

वेदवेत्ता

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

'तू सत्य है, तू अमृत-पुत्र है। मृत्युसे जीवनमें, अन्धकारसे प्रकाशमें तेरी गति है।' माताकी लोरियाँ उपदेश बनने लगीं। उनका ऋभु अब उनकी अँगुली पकड़कर खड़ा हो लेता है और कुछ तुतलानेका प्रयत्न भी करता है। वह बड़े ध्यानसे माताके मुखकी ओर देखता है, जैसे अभी ही उनकी वाणी समझ लेना चाहता हो।

'अमृत क्या है? मृत्यु कैसी होती है? अन्धकार कहाँसे आता है? प्रकाश कहाँ चला जाता है?' आदियुगके उस बालकमें जैसे जन्मसे ही दृश्यके प्रति कोई जिज्ञासा नहीं। सात्त्विकताके उस शुभ्र समयमें सहज प्रकृति बालकमें बाह्य कुतूहल उत्पन्न करनेमें असमर्थ होकर अन्तःकुतूहल जाग्रत् कर रही थी। बच्चेके प्रश्नोंकी सीमा नहीं थी और माताके स्नेहकी सीमा तो होती ही कहाँ है।

साठ-साठ हाथ दीर्घ शरट (आदियुगके छिपकली-जैसे प्राणी), हाथीको पंजोंमें ले उड़नेवाले शरभ, दो-दो गजके पक्ष रखनेवाले मच्छर, परन्तु बच्चेको कोई भय नहीं था। मनुष्यके हृदयमें द्वेष-हिंसाका कल्मष नहीं आया था। विश्व उसका अपना परिवार था। बालकके लिए उत्तुंग वृक्ष, महाकाय पशु, विशाल दानवाकार पक्षी, गजराज-से कपि, सभी अपने ही स्वजन थे।

सबका स्नेह उसे प्राप्त था। माताके समान ही सब उसके लिये चिरपरिचित-से थे। उनके सम्बन्धमें वह जिज्ञासा क्या करे ? क्यों ? उसका नन्हा-सा हाथ फैलते ही वृक्षकी उच्च शाखाका फल वैसे ही आ टपकता है, जैसे माता उस हाथपर फल रख देती है। उसके सिर हिलाकर नाचते समय फण उठाकर सर्प झूम उठते हैं, गजराज सूँड़ उठा लेते हैं, सिंह पूँछ हिलाते हैं और कपि किलकने लगते हैं। वह माताके कन्धोंके समान शरटकी देह या शरभकी पीठपर जा बैठता है। इन परिचितोंमें उसकी जिज्ञासा कहाँ ? वह तो अन्तर्मुख है।

मानवी--आज वर्षोंसे वह जहाँ स्नेह संचित कर रही है, जहाँ प्रेरणा प्रोज्ज्वल करनेके प्रयत्नमें है, वहाँ प्रकाश प्रकट होनेके लिए मचल पड़ा है। विवश है वह— प्रकाश, ज्ञान, वह तो श्रुतिरूप है। उसके आराध्य यदि उठते, ऋभु उनके ज्ञानके पावन आलोकमें दीप्त हो जाता। वह नारी है, उसका कण्ठ प्रणबका प्लुतनाद नहीं कर सकता। कोमल, विकृत उच्चारण तो अमंगलमूल होगा। वह श्रुतिमें अपने अनधिकारको जानती है; पर ऋभु—वह ज्ञानघन आदिमानवकी प्रतिमूर्ति—उसकी जिज्ञासा मचल उठी है। माता क्या करे ?

‘तुम्हारे पिता जिस अश्वत्थके नीचे विराजमान हैं, ठीक ऐसा ही एक अश्वत्थ है !’ माताने एक मार्ग निकाल लिया है। मनन ही तो ज्ञानका जनक है। यदि ऋभुको मन्त्रोपदेश नहीं हो सकता तो उसे मननमें लगाया तो जा ही सकता है। ‘उस अश्वत्थकी जड़ें नीचे पृथ्वीमें नहीं

हैं। जड़े ऊपर हैं और शेष भाग नीचे। जैसे अश्वत्थको उलटा लटका दिया गया हो! वह कभी सूखता नहीं। उसमें पतझड़ मात्र होते हैं।

कुछ सुनना और उसे बाह्य जगत्में ढूँढ़ने लगना रजोगुणकी वृत्ति है। उस आदियुगमें रजोगुण जिज्ञासा एवं शरीरकी सामान्य क्रियासे आगे नहीं बढ़ा था। बालकने सुना और सोचने लगा। माताकी गोदमें ही उसके निर्मल नेत्र अर्द्धोन्मीलित हो गये।

पिता-माताके साथ वह सम्मुख सुदीर्घ अश्वत्थके नीचे शिलापीठपर स्थिर बैठे पिताको नित्य प्रणाम करने जाता है। प्रातः-सायं जब माता उस अचल निस्पन्द मानवमूर्तिके पदोंपर अञ्जलिभर पुष्प डालकर वहाँ भूमिमें मस्तक रखती है, तो वह भी वही प्रणामका अनुकरण करता है। पिताके सम्बन्धमें उसका ज्ञान इतना ही है। 'पिता जिस वृक्षके नीचे बैठे हैं, वह अश्वत्थ उलटा कर दिया जाय तो?' वह सोचने लगा।

'मा, तू मेरी बात करती है क्या?' कुछ क्षणोंमें ही बालकने प्रसन्नतासे नेत्र खोल दिये। स्थिर, स्वच्छ चित्तका मनन क्या कालकी अपेक्षा करता है?

'क्या?' मानवीका मातृत्व उल्लसित हो उठा।

'मैं पहले सोचता हूँ और तब करता हूँ। मेरे कर्मोंका मूल मस्तकमें है। मस्तकसे ही यह सब शरीर, और कर्म नीचे फैले हैं। यही अश्वत्थ है न? पर मृत्यु, अमृत, प्रकाश?'

'जो तुझमें है, वही विश्वमें है। उस वृक्षकी ओर मत देख, वह तो जड़ हैं! चेतनका ठीक उलटा। यह उलटापन ही जड़की जड़ता है। नहीं तो वह भी ऊर्ध्वमूल चेतन ही है।' माताने बालकको स्नेहसे पुचकारा।

मन्द मलय मारुत बहता रहा। पक्षी कूजते रहे। पशु समीप आकर कूँ-कूँ करते और पूँछ हिलाते रहे। जीवनकी आवश्यकताएँ और फलतक सीमित हैं। उनकी बहुलता है वनमें। मानवीमें अपने आराध्यकी अर्चा और शिशुकी शिक्षाको छोड़ कोई वृत्ति नहीं। शिशु अपने जनकका उत्तराधिकारी है। उसकी निर्मल बुद्धि अबाध है। माता-पुत्रकी यह शिक्षा-जिज्ञासाका क्रम अबाध चले, इसमें कोई व्याघात सम्भव ही नहीं।

× × ×

(२)

चारों ओर पुष्पित लताएँ, फलभारसे झुके विटप और आनन्द-काकली करते पक्षी। ऋतुराजके इस महोत्सवमें एक दिन मानवीने अपने आराध्यका अनुग्रह प्राप्त किया। अनुग्रहके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं कहा जा सकता। सृष्टिकर्ताकी इच्छा थी की उनकी समस्त सृष्टि अभिवृद्ध हो-और कदाचित् वही इच्छा मानवमें काम बनी।

सहज निर्विकार मानव और साकार सेवा मानवी। मानव प्रकृतिके उल्लासमें अन्तर्मुख हो जानेका चिर अभ्यस्त तथा अपनी गुफाके अत्यल्प संचयमें भी समस्त

पशु-पक्षियोंको निर्बाध भाग देनेवाली मानवी। मानवी जगन्माताकी मूर्तिमान् प्रतिमा थी उस आदियुगमें। समान रूपसे सरल एवं हिंस्र पशु उसके स्नेहभाजन थे और सहज भावसे वह जब किसीको डाँट देती, केहरी भी भोले बच्चेकी भाँति मस्तक झुका लेता।

मानवीके आराध्य—नित्य पद्मासनपर अर्धोन्मीलित शान्त स्थित ध्यानस्थ मानव। वह आदियुगका पुरुष केवल आराध्य हो सकता था। वह नारीका, पशु-पक्षियोंका और प्रकृतिका भी केवल आराध्य था। जड़तक उसकी सेवामें अपनेको सार्थक मानते। परम पुरुषमें नित्य तदाकार मानव—यदा-कदा जब उसके सुदीर्घ पलकोंमें कम्पन आता, उसके पद्मपाणि हिलते और उसके कण्ठसे प्रणवका घन गम्भीर नाद गूँज उठता, नारीके साथ सम्पूर्ण कानन हर्षान्दोलित हो जाता।

नारी गृहिणी थी। उसके गुफा-गृहमें अवरोध नहीं था और संचय भी नहीं था। कुछ गिने-चुने फल, कुछ कन्द और नारिकेल-पात्रमें थोड़ा जल। वह भी कभी-कभी ही रह पाता था। कोई पशु, कोई पक्षी, कोई सरीसृप सर्प या शरट उसकी गुफामें चाहे जब आ जायगा और उसके संग्रहको प्रसाद मान लेगा। किसीके गुफामें आनेपर नारी उसे कुछ देना ही चाहती है। उसका मातृत्व उन्मुक्त है और उसका गृह—वह क्या उस गुफामें सीमित हो सकता है। वह इस सारे विस्तीर्ण जगत्की गृहिणी है। विश्व उसीका गृह है।

हमारे कलुषित भावोंने प्रकृतिको क्रुद्ध कर दिया है। हमें निरन्तर आघात और प्रताड़ना मिलती है। इसीसे

रक्षाकी चिन्तामें हम व्यस्त रहते हैं। जब अन्तःकरण अबाध सौहार्दसे पूर्ण हो, जगत्में कहीं सुहृदोंका अभाव है? नारी माता बनी—उस अपार वनमें, एकान्त गुहामें, शुश्रूषाहीन काननमें। वनजीवोंने अनुभव किया, उनमें उनका एक श्रेष्ठ आत्मीय आ गया है। नारीकी गुफा उपहारोंसे पूर्ण हो गयी थी उस दिन।

नारी सफल हो गयी—मातृत्व ही नारीकी सफलता है; किंतु उसे अभी सार्थक होना है। पुरुषको मुक्त करके ही नारी सार्थक होती है। पुरुष—वह तो उसकी गोदमें आज आया है। उसके आराध्य—वे तो नित्यमुक्त हैं। उनको बद्ध करे ऐसी शक्ति मायामें थी ही कब।

नारीने स्मरण किया—महर्षि उक्थ उसकी माताकी गुफामें एक दिन अचानक अतिथि हुए थे। उसके पिता उस समय पूरे एक पक्षसे अपने ध्यानासनसे उत्थित नहीं हुए थे। महर्षिके साथ उनके कुमार पुत्र थे। माताने महर्षिका आतिथ्य किया। कुछ कन्द, मूल, फल और अन्तिम उपहार बनी वह। माताने बड़े भावभरे कण्ठसे महर्षिसे अनुरोध किया था। 'कुमारकी आश्रमसेवाके लिए इस बालिकाको स्वीकार कर लें।'

उसके आराध्य—उस समय कुमार ही तो थे वे। उसके पिताके समीप आसन लगाकर पता नहीं कब बैठ गये और फिर उन्हें कौन उठाता। महर्षिने मातासे कहा था—'यह अब गृहस्थ हो गया। स्वतः अपना आश्रम बना लेगा।' जैसे पुत्रसे कोई ममता ही न हो। वे गये और फिर उनका पता तो लगना ही क्या। इस अनन्त

मेदिनीमें कौन किसे ढूँढ़ सकता है। व्यक्तिका अन्वेषणीय जो अन्तस्तत्त्व है, वह उसीको ढूँढ़ ले तो बहुत।

पूरे तीन पक्ष ध्यानस्थ रहकर उसके आराध्य उठे थे। माताने उनका सत्कार किया और उन्होंने माताको प्रणाम किया। उसकी ओर केवल एक बार देखकर वे चल पड़े थे। वह तो अनुगामिनी थी। माताका आशीर्वाद उसके साथ था। कोई नहीं जानता था, कहाँ जाना है। यह निर्झरिणीतट आराध्यको अच्छा लगा। अश्वत्थ-मूलकी शिलापर उन्होंने आसन लगाया और समाधिसे स्थित हो गये। नारी इस गुहामें गृहिणी बन गयी। अर्चाके अतिरिक्त उसके जीवनका और कुछ उद्देश्य भी तो नहीं।

'नारीकी सार्थकता है पुरुषको मुक्त करनेमें।' माताने उसे विदा होते समय आदेश दिया था। आज जब जननी होकर वह सफल हुई है, उसका भूतकाल जैसे उसके मानसनेत्रोंके सम्मुख साकार हो गया है। 'उसकी सार्थकता पुरुषको मुक्त करनेमें है!' उसके आराध्य—उनका अनुग्रह है कि उनके पावन पदोंमें यह पुष्पाञ्जलि अर्पित कर पाती है। आराध्यका प्रतीक, वैसा ही सौम्य, भव्य, मञ्जुल पुरुष आज उसकी गोदमें आया है। वह पुरुषको मुक्त करेगी। मुक्त करेगी! सफल करेगी अपने नारीत्वको। उस निर्मल मातृत्वमें मोहके लिए स्थान नहीं था। वात्सल्यकी सुधाधारा दिव्य प्रेमके आलोकमें उज्ज्वल हो गयी।

× × ×

(३)

"एक अनन्त अरूप चिन्मय ज्योति है। ज्योति-बिन्दु बनी—उज्ज्वल शाश्वत बिन्दु। बिन्दुका क्षरण नाद हो गया। रक्तवर्ण द्वितीयाके चन्द्रके समान ज्योतिर्मय नाद। व्यापक चित्की नीलिमा घन हुई, 'अ'कार होकर और बिन्दुने उज्ज्वल 'उ'कारका स्वरूप बनाया। नाद ही 'म'के रक्तिम रूपमें आ गया। त्रिवर्ण, त्रिमात्रिक प्रणव और इन मात्राओंके देवता हैं।" ऋभु बालक होकर भी आदियुगकी सहज सात्त्विकतासे सम्पन्न था। पिताकी स्थिरचित्तता उसे प्राप्त थी। वह ध्यान कर रहा था।

'त्रिमात्राकी ज्योति व्याहृतित्रयी बनी। प्रणवने गायत्रीका रूप लिया। स्थान एवं प्रयत्न-भेदसे अकार ही समस्त स्वर बना और स्वर बने व्यञ्जन। स्वर और व्यञ्जनोंके नाद हैं। उनका रंग है। उनके देवता हैं।' बालक हृदयमें प्रणवके प्रस्तारका साक्षात् कर रहा था। 'देवता—नादात्मक देवता! प्रत्येक देवशक्तिका नाद—देवताका मन्त्र और यह देव-जगत् ही स्थूलरूपमें व्यक्त हो गया है।' बालक उल्लसित हो गया। उसने नेत्र खोल दिये।

'मा! सचमुच अश्वत्थ तो उलटा ही है। यह सीधा अश्वत्थ तो भ्रम है। देख न, अनन्त ज्योति, बिन्दु, नाद, त्रिमात्रा, व्याहृति और फिर उससे ये प्रकाशमय अक्षर—हाँ मा! ये सब अक्षर हैं। नादात्मक ज्योतिर्मय और अक्षरित—कभी भ्रष्ट होते ही नहीं।' बालकने माताकी ठुड्डी पकड़कर ऊपर उठा दी, जैसे वह कोई प्रत्यक्ष वस्तु दिखला रहा हो। उसके अन्तरकी अनुभूति

बाह्यसे एकाकार हो गयी थी। उसने स्थूल जगत्‌को ठीक-ठीक रूपमें देख लिया है।

'ऋभु—मेरा बच्चा!' माताके हर्षका क्या पूछना। उसका यह नन्हा-सा पुत्र आज मन्त्रद्रष्टा हो गया है। वह एक ऋषिकी पत्नी थी तो आज ऋषि-माता हो गयी है।

'मा! ये अक्षर मिलते हैं और मन्त्र बनाते हैं। मन्त्र और उनके देवता—अश्वत्थ इन मन्त्रोंके पत्तोंसे पूरा ढक गया है। अश्वत्थके पत्ते ही तो ये हैं सब!' वृक्ष, लताएँ, पशु-पक्षी, पर्वत-निर्झर समस्त जड़-चेतन जगत् मन्त्रात्मक है, सबके देवता हैं, जैसे देवताओंकी छाया हो यह मूर्त जगत्।

'ये अक्षर, मन्त्र, देवता तो सब प्रकाशमय हैं। अश्वत्थ तो नष्ट नहीं होता, फिर यह अन्धकार, मृत्यु क्या हैं मा?' बालकने जिस अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार किया है, उससे तो बाह्यका मेल बैठकर भी नहीं बैठता। वहाँ तो मृत्यु है ही नहीं—फिर बाह्य जगत्‌में यह सब क्यों?

'ऋभु! सचमुच कहीं अन्धकार है क्या?' माताको अपने ही मार्गसे समझाना है। वह मन्त्रोच्चार और मन्त्रव्याख्या करनेसे रही।

'हूँ—वह अपना झबरा सिंह जैसे कभी-कभी मेरे साथ खेलते-खेलते कुंजोंमें भाग छिपता है, ये सब पदार्थ कभी यहाँ व्यक्त होते हैं और कभी दिव्य जगत्‌में जा छिपते हैं।' ऋभुने माताके प्रोत्साहनसे पुनः निरीक्षण प्रारम्भ कर दिया। 'जैसे अश्वत्थ उलटा ही है, उसका

यह सीधापन—जड़त्व झूठा है, वैसे ही अन्धकार और मृत्यु भी भ्रम ही हैं क्या मा ?'

'बेटा, तू देखता जा !' जो अन्तर्निरीक्षण करने लगा हो, उसे प्रेरणा ही दी जा सकती है। उपदेशसे प्रोत्साहन उसे अधिक अपेक्षित होता है।

'मा ! बिन्दुसे नाद और नादसे त्रिमात्रा, व्याहृति आदि यह क्षरण और फिर भी सब अक्षर हैं। अनादि-- नित्य—यह सब कैसे ?' समस्या तो जटिल होती ही जायगी। श्रुतिका समाधान तो परम्परा प्राप्त है। वाणी और बुद्धि ही उसका समाधान प्राप्त कर ले तो वह अनन्त ईश्वरीय ज्ञान क्यों कहा जाय।

'ऋभु ! तेरे पितृपाद ही तेरा समाधान कर सकते हैं।' मानवीने अश्वत्थ-मूलकी ओर देखा। वहाँ शिलापर सृष्टिकर्ताकी सर्वश्रेष्ठ कलाकृति अचल प्रतिष्ठित थी— निश्चल, निःस्पन्द।

'पिता—पिता तो श्रीविग्रह हैं न ?' ऋभुने तो कभी उस श्रीविग्रहमें गति देखी नहीं। आज पाँच वर्ष हो चुके, वह माताके साथ श्रीविग्रहकी भाँति ही उन्हें प्रणिपात करता आ रहा है।

'वे तेरी ही भाँति ध्यानस्थ हैं। जैसे अभी तुझे कुछ क्षणको हो गया था।' माताके नेत्र क्यों सजल हो गये यह कहते हुए, यह ऋभु नहीं समझ सकेगा।

'मेरी भाँति ध्यानस्थ !' ऋभुने दो क्षण गम्भीर बनकर सोचा। 'मैं उन्हें जगा लूँगा मा ! तू पुष्पाञ्जलि देगी न ?'

'तू जगा लेगा ? बेटा ! जाग्रत् होनेसे उनका ध्यानस्थ होना क्या ठीक नहीं ?' मानवी—वह पुरुषको बाँधनेवाली नहीं, उसे मुक्त करनेवाली महनीय नारी, किञ्चित् क्षुब्ध हुई।

'तू पुष्पाञ्जलि प्रस्तुत कर ! मैं उन्हें अश्वत्थके मूल नादसे विन्दुमें जाग्रत् करूँगा ! बालक अपना सहज चापल्य छोड़ दे तो वह बालक कहाँ रह जायगा।

× × ×

(४)

प्रणवका सुदीर्घ घण्टानाद—त्रिमात्रासे ऊपर नाद—नाद और जैसे प्रकृतिका अणु-अणु उस नादसे झंकृत हो उठा है। ऋभुका मुख-मण्डल अरुण दीप्त हो उठा बालरविकी भाँति। नाद दीर्घ, दीर्घतम, प्लुत होता जा रहा था। कम्पन—हिण्डन बनने लगा।

पशुओंने मुख ऊपर किये, पक्षियोंका झुंड एकत्र हो गया, भ्रमरोंकी गूँज एकाकार हो गयी—ऋभुका नाद सबकी वाणीमें व्याप्त हो रहा था और उसीमें आत्मविस्मृत-सी मानवीने देखा, उसके आराध्यकी पलकें काँप उठी हैं। अधर-संपुट हिले और नाद व्यक्त हुआ, ऋभुके नादसे कुछ अधिक गम्भीर स्वर वाणीका नाद।

जैसे मानवकी एक छोटी-सी प्रतिमूर्ति उसके सम्मुख खड़ी हो। नादने मात्रात्मक रूप लिया और मानव नेत्र खोलकर एकटक उस अपनी प्रतिमूर्तिको देख रहा था। कदाचित् समझनेका प्रयत्न कर रहा था।

'पितः' ऋभुने जाग्रत् पिताके चरणोंपर मस्तक रक्खा। नारीकी कुसुमाञ्जलि समर्पित हो चुकी थी। पशु-पक्षी अपने कुल-पिताका अपने-अपने इंगितमें सत्कार करनेमें तन्मय थे। मानव कदाचित् अब भी बाह्य जगत्‌में पूर्णतया जाग्रत् नहीं हुआ था।

'मैंने बाधा दी है....' बालकके कोमल कण्ठमें क्षमा और नम्रताके भाव थे। माताके समान पिता उससे बोलते क्यों नहीं? रोष भी कुछ होता है, मानव तबतक इसे जानता ही न था, किंतु अनुत्तरकी अवस्थाका मौन विरागका परिचायक है, यह बालक ऋभु भी जान चुका था। अनेक बार वह ध्यानस्थ रहता है तो माताके प्रश्नोंका उत्तर देनेकी इच्छा जो नहीं होती, कुछ वैसा ही।

'वत्स!' मानवका वात्सल्य स्वरमें व्यक्त हो गया। 'तू प्रणवका द्रष्टा है न?' किसीको कुछ बतलानेकी आवश्यकता नहीं थी। शुद्ध एकाकार हृदय परस्पर सदा अनावरित रहते हैं और मानवके लिए तो 'अज्ञात' जैसा कुछ था ही नहीं। ईश्वरीय अनादि ज्ञान श्रुतिका जिसने दर्शन किया है, उसके लिये अज्ञात क्या रहेगा।

'बिन्दु और उससे नादका क्षरण!' ऋभुने अपना प्रश्न सीधे ही व्यक्त करना चाहा।

'क्षरण नहीं वत्स! अश्वत्थ तो अव्यय है, वहाँ कारण और कार्य सब अनादि हैं। बिन्दुमें अव्यक्त नाद केवल कभी व्यक्त होता है और कभी अव्यक्त। नाद-बिन्दुकी एकात्मता ही तो चिन्मय ज्योति है।'

मानवी देख रही थी—उसका पुत्र ध्यानस्थ हो रहा है, उसके नेत्र अर्धोन्मीलित होते जा रहे हैं। पिताकी गोदमें ही वह अपने ज्ञानकी परम्पराको साक्षात् करनेके क्षणमें है।

'देवि! तुम्हारा जीवन सार्थक हो गया!' मानवने नारीकी ओर देखा। सचमुच ही तो वह पुरुषको मुक्त करनेमें सफल होकर आज सार्थक हो गयी है।

'मेरे प्रभु!' नारीका भाव-क्षुब्ध स्वर भले व्यक्त न हो, किंतु उसके मस्तकके साथ उसके नेत्र-बिन्दुओंने अपने आराध्यके पादपद्मका स्पर्श कर लिया।

'ऋभु!' पुरुषके अमृतस्यन्दी कर बालकके मस्तकपर घूम गये। बालकने बाह्य बोध प्राप्त किया। वह उठा। उसने पिताके चरणोंमें मस्तक रक्खा और सहसा एक ओर मुड़ा—

'वासुदेव!' ऋभुने उस अश्वत्थको भूमिमें लेटकर प्रणिपात किया—'विराट् प्रभु! आपने यह जड़के विरोधाभासका नाट्य स्वीकार किया है—आनन्द-क्रीड़ाके लिए।'

वायुके मन्द वेगमें अश्वत्थके सुचिक्कण पत्र कम्पित हो रहे थे। उनकी मन्द ध्वनि ऋभुसे जैसे कुछ कह रही थी और ऋभु—उसके मानसमें विराट् विश्वके आधिदैवतमन्त्र जाग्रत् हो गये थे। वह प्रणवका गम्भीर नाद वाणीसे व्यक्त करता एक ओर चला जा रहा था।

'नाथ!' मानवीका वात्सल्य व्यग्र बना।

'वह प्रणवका द्रष्टा है। वेदवेत्ता है वह!' पुरुष स्वयं कहीं प्रस्थान करनेको उठ खड़ा हुआ। 'ऋषिमाता! तुमने स्वयं जिसे मुक्त किया है, वह फिर क्या बन्धनमें रहेगा।'

'ऋभु—प्रणवका द्रष्टा—वेदवेत्ता!' मानवी एकटक अपने आराध्यके मुखकी ओर देखने लगी। 'वेदः प्रणव एवाग्रे' हम आप समझें या न समझें, पर मानवी—उसका बच्चा, उसका ऋभु—वात्सल्य बलवान् होता है। वह रोक नहीं सकती और सन्तोष कहाँ होता है उसे। आराध्य कहते हैं 'ऋभु मुक्त हो गया। वेदवेत्ता हो गया।' वात्सल्य कहता है—'वह बालक है। दूर चला गया।'

ऋभु—वह तो अश्वत्थके अन्तर्दर्शनमें एकाग्र हो गया। उसे पता नहीं, वह कहाँ जायगा।

विश्व-तरु

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

शतद्रूका पावन तट महाराजके यज्ञधूम्रसे शुचितम हो रहा था। दूरसे अग्निकी लपटोंके समान लाल ध्वजा अतिथिका आह्वान करती और ऋषि-कण्ठोंका सामगान अमरावतीके दिव्य देहधारियोंको आकृष्ट करता गूँज रहा था। सुरभित धूम्रने तरुपल्लवोंकी हरीतिमाको विभूति-भूषित कर दिया था।

जैसे पृथ्वी पूर्वाग्र करके बिछाये कुशोंसे आच्छादित हो गयी है और स्वर्णस्तम्भोंपर खिचे कौशेयपट मण्डपने गगनका विस्तार छीन लिया है। यज्ञमण्डप, ऋषियोंके आवास, पत्नीशाला, वास्तु-भण्डार, अतिथि-शाला, पशु-शाला—पता नहीं कितना विस्तृत है यह यज्ञ-नगर। महाराज करन्धमका बृहस्पति-सव महायज्ञ जो चल रहा है। महीनों नहीं, कई वर्ष लगने हैं उसमें।

संयम, सम्पत्ति और श्रद्धाकी त्रयी त्रेतामें न प्राप्त हो तो कहाँ प्राप्त होगी? महाराजकी अतिथि-शालाएँ मणिप्रदीपोंसे आलोकित होती हैं और उनकी कुट्टिम भूमि दर्पणकी भाँति उपकरणोंको प्रतिबिम्बित करती है; किंतु

स्वयं महाराज तृण-कुटीरमें गोबरसे लिपी हुई वेदिकापर कुशोंके ऊपर ही विश्राम करते हैं।

अरण्यवासी ऋषियों और अतिथियोंके लिए कौशेयाम्बर, रत्नाभरण एवं स्वर्ण थालोंमें विविध नैवेद्यराशि निवेदित करनेवाला चक्रवर्ती कृष्ण-मृगचर्म पहनता है, कदलीपत्रपर एक समय हविष्यान्न ग्रहण करता है और उसका आभूषण है उपवीती मात्र।

जिसके शरासनपर ज्या चढ़नेसे पूर्व ही असुर-कुल पातालका पथ लेता है, जिसकी कुटिल भृकुटि-से लोकपाल भी कम्पित होते हैं, जिसकी प्रसन्न भंगिमा मात्रकी प्राप्तिके लिए सम्राटोंको साञ्जलि प्रतीक्षा करनी पड़ती है, आज वह सौम्यताकी मूर्ति है। एक आगत श्वपचके लिए भी उसके कर बद्ध हो जाते हैं और वह स्वतः अभ्युत्थान देता है। अन्ततः उपार्जनका इससे भव्य स्पृहास्पद और क्या उद्देश्य हो सकता है।

यज्ञवेदियाँ उपलिप्त हुईं, प्रोक्षित हुईं, उनपर मण्डल बने। अरणि-मन्थनका प्रारम्भ ही मात्र करना था, अग्निदेव तो स्वयं समुत्सुक थे यहाँकी पवित्र आहुति प्राप्त करनेके लिए। दिक्पालोंके कलश-प्रदीप भूषित हो चुके थे और उनकी ध्वजाएँ दिशाओंमें यज्ञ-कीर्ति विस्तीर्ण करने लगी थीं। भगवान् गणपति अग्रपूजा लेकर अपने आसनपर अरुणाम्बर-आवेष्टित इस प्रकार विराजमान थे, जैसे यजमानका मङ्गल मूर्तिमान् होकर अविचल स्थित हो गया हो।

यज्ञ-कुण्डसे पूर्वपूजनके अनन्तर होताने अग्निदेवको स्थापित किया। प्रोक्षण, परिसमूहनादि करके यज्ञ-स्रुवा

उठाया उन्होंने। महाराजने सदसस्पतिकी ओर देखा—यज्ञकी आज्ञा तो वही देंगे न ?

'यज्ञीय पशु अन्तर्हित हो गया है।' सूचकने नम्रतामे प्रणाम किया इसी समय। 'उसे पर्याप्त ढूँढ़ लिया गया ; किंतु कोई पता नहीं।'

महाराज एक क्षणको चकित हो गये। पशु क्या हुआ? अभी दो मुहूर्त पूर्वतक आशा थी कि वह भू-प्रदक्षिणा करके अविरोध लौटेगा। अग्नि-स्थापनके अनन्तर उसे अर्घ्य देनेकी समस्त प्रस्तुति हो गयी। अब उसे लौटना चाहिये था। उसका किसने हरण किया ?

'दानवेन्द्र ! देवराज !' महाराजने अपने दोनों सम्मान्य अतिथियोंकी ओर देखा। उनके आमन्त्रणको दैत्येश्वर विरोचनने स्वीकार किया था और देवराज तो उनपर सदा ही कृपा करते हैं। 'क्षत्रिय युद्धसे भयभीत नहीं होते, किंतु मुझे अपने अतिथियोंसे अन्यथा आशा नहीं करनी चाहिये।'

'असुरकुलने विश्वासघात नहीं सीखा है।' श्रीप्रह्लादजीके पुत्रकी वाणी उन्हींके उपयुक्त थी। 'दैत्य, दानव, राक्षस आदि किसी असुरकुलका कोई सदस्य मेरे यहाँ रहते आपके अहितकी बात भी नहीं सोच सकता।'

'राजन् ! जबतक किसी देवशक्तिकी अवहेलना अथवा पराभवकी भावना न आवे, देवता यज्ञ-विघ्न कर ही नहीं सकते ! मानवके दोषकी ही वहाँसे प्रतिक्रिया होती है।' देवराजने स्पष्ट अपनेको तटस्थ घोषित किया। 'आप मेरे

प्रिय हैं और आपके किसी परिजनका कोई देवापराध मैं स्मरण नहीं करता।'

'मैं अमरावतीके अधीश्वरकी अधिक अनुकम्पा चाहता हूँ, इस उन्हींकी समाराधनामें।' महाराजने प्रार्थना की।

'आपका अश्व मैं देख नहीं पा रहा हूँ।' महेन्द्रने सबको चौंका दिया। देवराजकी लोकव्यापिनी दृष्टिमें भी अश्व नहीं! हताश महाराज कुलगुरुके चरणोंपर गिर पड़े। अश्वके बिना यज्ञ होगा कैसे ?

× × ×

(२)

'यह प्राणी कहाँसे आता है? क्यों आता है इस जगत्में ?' महाराजके मनमें यह प्रश्न बराबर उठता रहा है। उन्होंने इसी शरीरसे देवराजका आतिथ्य स्वीकार किया है, भगवान् यमका न्याय-विधान देखा है और दैत्येन्द्रसे पातालके सम्बन्धमें पूछा है। कहीं उनके प्रश्नका समाधान नहीं। कोई कुछ बता नहीं पाता या फिर बताना नहीं चाहता।

'आप-जैसे पुण्यात्मा ही स्वर्गकी शोभा हैं। अमरावती तो धराका उपनिवेश है।' देवराजने ठीक ही तो बताया है। वहाँ जो कल्पान्ततक रहनेवाले कारक पुरुष या नित्य देवता हैं, वे पूर्वकल्पमें पृथ्वीपर थे। तब देवराज जीवकी गति क्या बता सकेंगे।

'यह तो न्यायालय है। स्वर्ग या नरक, अपने कर्मोंके अनुसार प्राणी यहाँसे भेजा जाता है। यहाँ भी सब पृथ्वीसे ही आते हैं।' पता नहीं क्यों धर्मराज यह कहते समय तनिक हँसे थे। कदाचित् इससे अधिक जो वे कह सकते हैं—कहना नहीं चाहते।

'देवता हमारे छोटे भाई हैं। जैसे देवता, वैसे हम। अन्तर है तो इतना ही कि हमारा देश सृष्टिके प्रारम्भमें ही बस जाता है। हमारे यहाँ अतिथियोंका आना-जाना नहीं होता, परंतु भूमि ही हमारी भी मातृभू है और हम सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि अपने अधोलोकोंका अपार ऐश्वर्य छोड़कर भी पृथ्वीपर रह पावें।' दैत्यराजने सीधी स्पष्ट भाषामें अपनी बात समझा दी थी।

'भूमिसे स्वर्ग या नरक अथवा पाताल और वहाँसे फिर भूमिपर। इस क्रमका मूल क्या है। भूमि सबका केन्द्र तो है, पर क्या यहाँ इस चक्रको चलाते रहनेके लिए ही प्राणी आता है?' महाराजका समाधान हुआ नहीं।

उस दिन गुरुदेव सानुकूल थे। वे अग्निकी आराधनासे सीधे अध्यापनके आसनपर जा बैठे थे। आश्रमके अन्तेवासियोंने देखा कि महाराज हाथमें शमीकी सूखी समिधाएँ लिये उनमें-से सबके पीछे प्रणिपात कर रहे हैं।

'शमी अग्निगर्भ होता है नरेश!' गुरुदेव प्रायः परोक्ष उपदेश ही देते हैं। 'समिधाओंकी सार्थकता है कि वे यज्ञमें आहुतियाँ प्राप्त करके प्रकाशको प्रदीप्त करें।'

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

एक सबसे अल्पवयस्क बालककण्ठ कहीं भगवान् सविताकी स्तुति कर रहा था--' स्वर्णके पात्रसे सत्यका मुख आच्छादित है। भगवान् आदित्य--पोषणके अधिदेव प्रभु ! आप उस आच्छादनको दूर कर दें। जिससे मैं उस सत्यस्वरूप धर्मका दर्शन कर सकूँ।'

महाराजके हृदयमें वह स्तोत्रके मन्त्र जैसे समुज्ज्वल हो गये। वे भी तो सत्य-धर्मका दर्शन चाहते हैं। उसे क्या सुवर्णके पात्रसे ढका गया है ? क्या सम्पत्ति ही उस धर्म-दर्शनमे बाधक है? ये ज्ञानस्वरूप आदित्य-गुरुदेव क्या उसे अनाच्छादित कर रहे हैं। ' सम्पत्ति—अपने लिए तो सम्पत्तिका संग्रह कोई करता नहीं।' महाराजको क्या पता था कि उनके युगके पश्चात् मनुष्य केवल सम्पत्तिका अपने लिए संग्रह ही करे, यही नहीं—वह सम्पत्तिके लिए ही जीवन धारण करेगा !

' मैं भगवान् यज्ञ-पुरुषकी आराधना करूँगा ! प्रभु अनुग्रह करें !' परोक्ष उपदेशकी महत्ता यही है कि जो जैसा अधिकारी होता है, उसके अनुरूप ही उपदेशका अर्थ-ग्रहण होता है। महाराजने समझा ' गुरुदेवने शमीकी अरणिसे प्रकट भगवान् अग्निको आहुतियोंसे तृप्त करनेका आदेश दिया है। यज्ञके द्वारा ही मैं अधिकारी हो सकूँगा उस ज्ञानका, जो हिरण्यसे आच्छादित हो गया है। यज्ञमें सर्वस्वदानके अनन्तर गुरुदेव या भगवान् यज्ञपुरुष मुझे वह आलोक प्रदान करेंगे।'

गुरुदेवके मुखपर उस दिन मन्द स्मित आया था। उन्होंने अनुरोध स्वीकार कर लिया। प्रजाके लिए इससे

आनन्दप्रद कोई संवाद हो ही नहीं सकता था। साक्षात् मन्त्रमूर्ति, तपोधन अरण्यवासी महर्षियोंने कृपा की। यज्ञका समारम्भ हुआ। यज्ञ-पशु छोड़ा गया और उसे सर्वत्र विनम्र स्वागत ही मिला।

प्रथम बार देवेन्द्र एवं दैत्येन्द्र एक ही यज्ञ-मण्डपमें समान आसनोंपर आसीन हुए। कामनाहीन, केवल यज्ञ-पुरुषकी तृप्तिके लिए होनेवाले यज्ञमें स्व-पर पक्षका प्रश्न ही नहीं था। उन जनार्दनकी तृप्ति तो सभीकी समान पोषिका है। कहींसे किसी विघ्नकी जहाँ आशंका नहीं थी, वहीं विघ्न हुआ। यज्ञीय पशु अन्तर्हित हो गया और वह केवल स्थूल जगत्से ही नहीं, दिव्य जगत्से भी अन्तर्हित हो गया। महाराज गुरुदेवके सम्मुख करबद्ध बैठ गये थे पादपीठके समीप और गुरुदेव—उन्होंने तो नेत्र बंद किया और रोम-रोम हर्षोत्फुल्ल हो गया। विस्मृत हो गये वे कि कहाँ हैं, क्या हो रहा है।

× × ×

(३)

'देवराज ! क्या ऐसा भी कोई स्थान है जो आपकी दृष्टिसे परे हो ?' कुलगुरुकी दृष्टि देवेन्द्रके नयनोंपर स्थिर हो गयी।

'मेरी शक्ति सीमित है।' सुरपतिने मस्तक झुकाया। वे असत्य नहीं बोल सकते और इस अवसरपर सत्य बहुत ग्लानिकर है, सो भी मनुष्यों और दानवपतिके सम्मुख।

'अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड हैं और उनके सम्बन्धमें पितामहको भी बहुत अल्पज्ञान है।' देवेन्द्रने जान-बूझकर भगवान्‌की अनन्तता सूचित की। इसी ब्रह्माण्डमें ब्रह्मलोक, भगवान् शङ्करका कैलाश, भगवान् शेषका पाताल ऐसे हैं, जहाँ महेन्द्रकी दिव्य-दृष्टि कुण्ठित हो जाती है। वे वहाँ गये बिना कुछ नहीं देख पाते।

'अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड जिसकी एकतामें स्थित हैं, उसका भी धाम है न?' महर्षिकी वाणी गम्भीर बनी रही।

'प्रभुके दिव्यधामोंसे ही हमारे ब्रह्माण्डकी सत्ता है, परंतु वहाँ हमारी गति नहीं।' जहाँ लोकपितामह भी द्विपरार्धान्तमें ही क्वचित् प्रविष्ट हो पाते हैं, वहाँ गति न होना कोई खेदकी बात नहीं और न लज्जाकी।

'राजन्! यज्ञेशका उपस्थान करो।'

'यज्ञीय पशु... ....।'

'भगवान् यज्ञपति स्वयं उसकी व्यवस्था करेंगे।' महर्षिने महाराजको शङ्का करनेसे रोका। 'जो उपकरण दिव्य जगत्‌से भी ऊपर हों, जिन्हें देवराज भी देख न सकें, उनके अभावमें मानवकी क्रिया अपूर्ण नहीं रहती। कोई अपूर्णता हो तो भी भगवान्‌का नाम-कीर्तन उसे पूर्ण कर देता है।'

किसीको सन्देह नहीं था कि महर्षिकी सर्वज्ञता अबाध है और यज्ञीय अश्व उनसे अविदित नहीं है। होता, ऋत्विक् सावधान हुए। महाराजने प्रफुल्ल अरुण

पद्म-पुष्पोंकी अञ्जलि उठायी। 'सहस्रशीर्षा पुरुष........' स्तवन सस्वर होकर दिव्यजगत्‌से ऊपर गुंजित होने लगा।

'शुभं भूयात्!' गुरुदेवका कण्ठस्वर शङ्खध्वनिकी गम्भीरतासे गूँजा और साथ ही यज्ञशाला अश्वकी हिंकारसे पवित्र हो गयी। यज्ञीय पशु स्वयं यज्ञेशका स्वरूप होता है। महाराजके आश्चर्यकी सीमा नहीं थी। अश्व उनके सम्मुख इस प्रकार स्थिर खड़ा था, जैसे वह चिरकालसे वहीं हो। कोई नहीं जानता वह किधरसे आया। कौतूहल एवं जिज्ञासासे पूर्व उपस्थान पूर्ण हुआ। अश्वका पूजन हुआ। आलम्भन-कृत्यके पश्चात् यज्ञीय पशु विश्रामशालामें पहुँचाया गया।

'एक वृक्षके मूलसे ही दो तने हो गये हैं। बड़ा विचित्र है वह वृक्ष। एक तना अपनी शाखाओंके साथ थोड़ी दूर जाकर फैल गया है और दूसरा सीधा नीचे चला गया है। वृक्षकी जड़ ही ऊपर है तो तना कहाँ जाय। वह दूसरा तना सीधे नीचे चला आया है। नीचेवाले तनेसे फिर नीचे-ऊपर चारों ओर शाखाएँ गयी हैं और वट-वृक्षके समान इस तनेसे नीचे चारों ओर जड़ें फैली हैं। पर यह वट नहीं, पीपल है।' महाराजने विश्रामशालामें पशुको प्रणिपात किया और वैसे ही भूमिमें पड़े रह गये। वे यह क्या स्वप्न देख रहे हैं।

'प्रभो!' सेवकोंने संकोचसे सावधान करनेका प्रयत्न किया। यज्ञशालाके ऋत्विक् पूर्णाञ्जलिके लिए शीघ्रता कर रहे थे। अवभृथस्नान भी मध्याह्नके अभिजित् मुहूर्तमें

होना चाहिये। महाराज तो कदाचित् यज्ञीय क्लमसे खिन्न होकर सो रहे हैं भूमिपर।

'कैसा है यह तेजोमय अश्वत्थ? उसके भीतरका श्वेत, लाल एवं काला रस बाहरसे ही सृष्टि पड़ता है। बड़े सुन्दर-सुन्दर लाल-लाल कोमल पल्लव हैं उसमें। ऊपरवाली शाखाके पल्लव तो और भी मृदुल-मंजुल हैं।' महाराज अपने अद्भुत दृश्यमें तन्मय थे।

'अतिकाल हो रहा है!' यज्ञीय विधिका सम्यक् निरीक्षण ही तो 'ब्रह्मा' का कार्य है। उन्होंने कुलगुरुसे कोई समाधान चाहा। सेवक निराश लौट आये थे। पता नहीं महाराजको क्या हो गया। वे तो उठते ही नहीं। जाग्रत् भी नहीं होते। पुकारने और स्पर्श करनेपर भी नहीं।

'भगवान् वासुदेव! महाराजने उस तन्द्रालोकमें भी अश्वत्थकी पूजा की और प्रणिपात किया।

'वत्स!' जैसे भगवान् वासुदेव ही प्रसन्न हो गये हों। महाराजने नेत्र खोले। मस्तकपर कोमल कर रक्खे गुरुदेव सम्मुख खड़े थे। 'कभी भी श्रद्धा असफल नहीं होती। तुम्हारा संकल्प सिद्ध हुआ। अब ऋत्विकों एवं देवताओंको अवभृथकी अर्चा प्राप्त हो।'

महाराजने कुछ नहीं समझा। इस समय कुछ समझने-सोचनेकी अपेक्षा आदेश-पालनकी अधिक आवश्यकता थी। सेवक पीछे करबद्ध खड़े थे। महाराज एक विनयी बालककी भाँति उठे और गुरुदेवके पीछे हो लिये।

'कैसा है यह यज्ञ ? कैसी है इसकी सांगता ?' महेन्द्रने अनेक बृहस्पति-सव यज्ञोंकी अर्चा प्राप्त की है ; किंतु महाराज करन्धमका यह यज्ञ—इसमें यज्ञेशके दर्शन उन्हें नहीं हुए। संकल्पकी सिद्धि साकार नहीं हुई ; किंतु यजमानने बड़ी प्रसन्नतासे देवताओंके साथ उनका विसर्जन कर दिया। देवेन्द्र अन्ततक कुछ समझ न सके।

× × ×

(४)

'प्रभु ! क्या त्रेतामें ही यज्ञपति भगवान् विष्णुका यज्ञान्तमें दर्शन शक्य नहीं रहा ?' गुरुदेव जब कह चुके कि यज्ञ सविधि पूर्ण हुआ तो श्रद्धाके अभावका प्रश्न ही कहाँ रहा।

'प्राणी इस लोकमें कहाँसे आता है ? क्यों आता है ? क्या है इस लोकका सत्य मूल ?' महर्षिने मन्दस्मितके साथ अपने शिष्यकी ओर देखा।

'श्रीचरणोंके आदेशसे क्रतुका आयोजन हुआ।' महाराजने तो इन्हीं समस्याओंके समाधानके लिए यज्ञ किया था। आज उन्हींसे ये प्रश्न क्यों किये जा रहे हैं। 'मुझे आशीर्वाद मिल गया है। यही मेरे आश्वासनका कारण है।'

'तुमने यज्ञेशके श्रीचरणोंमें अश्वत्थका साक्षात् किया है न ?' यज्ञीय अश्वको पशु मानकर भला कोई क्यों पूजेगा ?'

'मुझे अवकाश नहीं मिला कि वह दृश्य निवेदित करूँ।' महाराजने मस्तक झुका लिया।

'राजन्! भगवान्‌के विराट्‌स्वरूपका वर्णन श्रुति करती है और श्रुति ही कहती है कि जिस वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं, वह अश्वत्थ वृक्ष है—पिप्पल है।' महर्षिके संकेत बहुत स्पष्ट न होकर भी पर्याप्त थे।

'मैं उस स्वरूपका स्पष्ट दर्शन कर सकता, ऐसी क्षमता मुझमें नहीं है।' सचमुच यदि अधिकारी हो तो क्या उसे अधिदैवत जगत्‌की बौद्धिक व्याख्या अपेक्षित है। 'श्रीचरणोंकी परम्परासे प्राप्त ज्ञान ही मेरा मार्गदर्शक है।'

'महाराज! आपने विषय-भोगोंका प्रलोभन छोड़ा, अश्वत्थके ये प्रवाल अत्यन्त मोहक हैं और लौकिक भोगोंसे स्वर्गके भोग—ऊपरी शाखाके प्रवाह तो और भी आकर्षक हैं। इन प्रवालोंकी पुष्टि जिन रसोंसे होती है, उन तीनों रसों, गुणोंके भी आप द्रष्टा बन सके और इसीलिए आपने पूरे अश्वत्थका साक्षात् पाया।' महर्षिने विश्व-तरुकी व्याख्या की।

'कल्पके आदिमें विश्वका एक भाग दिव्य स्वर्गादिलोक बनता है और एक हमारा मर्त्यलोक। स्वर्गलोक तो वैसे-का-वैसा है, कारक देवता कल्पान्ततक स्थित रहेंगे; परन्तु मर्त्यभूमिकी शाखाएँ ऊपर-नीचे चारों ओर फैली हैं। यहाँके कर्मभोग प्राणीको सर्वत्र पहुँचाते हैं।' व्याख्या और स्पष्ट हो गयी।

'अश्वत्थकी नीचेकी शाखासे निकली जड़ें—कदाचित् हमारे नाना प्रकारके कर्म हैं। यही तो जीवको बाँधते हैं।

इन्हींसे तो विश्व-तरुकी स्थिति है ; परन्तु यज्ञीय पशुकी अदृश्य अवस्थिति कहाँ थी ? महाराजका यहीं समाधान नहीं हो रहा था ।

'जहाँसे जीव आता है ।' महर्षिने गम्भीरतासे समझाया 'यह विश्व-तरु कर्ममें बँधा उन कर्मसूत्रोंसे पोषित है जो जड़के समान कर्मलोकमें विस्तृत हैं । कर्म न हों तो विश्व न रहे ; परन्तु इसका मूल यहाँ नहीं । मूल तो ऊपर है । इन कर्मसूत्रोंके विस्तृत मूलोंको काटकर विश्व-मूलमें जीवको जाना है ।'

'देवता दृश्य नहीं हैं साधारणतः ; किंतु वे चाहे जब व्यक्त हो जाते हैं । विश्वके पदार्थोंको वे कभी हमारे शुभकर्मोंके अनुकूल व्यक्त कर देते हैं और कभी अशुभ कर्म यहाँ प्रबल होनेपर पदार्थोंको तिरोहित कर देते हैं । इसी प्रकार देव-जगत् भी प्रलयमें जहाँ लीन हो जाता है, वही विश्वमूल है । वहींसे तुम्हारा अश्व सहसा प्रकट हो गया ।'

शतद्रूका कलकल नाद दिशाओंमें व्याप्त हो रहा था । यज्ञकुण्डसे सुरभित धूम्रकी कुण्डलियाँ उठ रही थीं । आश्रमवासी छात्र अपने आसनोंपर गायत्रीका प्रणिधान कर रहे थे और सात्त्विकताकी इसी पृष्ठभूमिमें महाराज करन्धम गुरुदेवके अमृतोपदेशका पान करके ध्यानस्थ-से हो गये ।

'भगवान् यज्ञपति······!' दो क्षण पश्चात् महाराजने नेत्र खोले ।

'वे तुम्हारे यज्ञमें पधारे। तुमने उनकी अर्चा की और उन्होंने अपने विश्वरूपका तुम्हें साक्षात् कराया।' महर्षि आतुरतासे बोलते हुए बीचमें ही उठ खड़े हुए और उन्होंने अन्तेवासियोंको शीघ्रतासे अर्घ्य प्रस्तुत करनेका आदेश दिया।

'यह क्या, यह तो यज्ञीय अश्व है।' महाराज गुरुदेवके साथ ही उठ गये थे। अश्व आश्रमद्वारमें प्रविष्ट हो, इसके पूर्व ही आगे बढ़कर महर्षिने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। अर्घ्य निवेदित किया! 'हयशीर्ष्णे नमः।' महर्षि भावावेशमें अश्वको भगवान् हयशीर्षके रूपमें देख रहे हैं, यह सन्देह तब और भी अस्त-व्यस्त हो गया, जब अश्वने महर्षिका दिया हुआ आसन ग्रहण कर लिया।

'कुमार कार्तिकने महाराजका अश्व उन्मुक्त कर दिया है! अश्व इलावर्तमें प्रविष्ट ही होनेवाला था कि एक रुद्रगणने उसे निरुद्ध कर लिया। कुमारकी महाराजपर कृपा है। महाराजके लिए उनकी कीर्तिकामना।' जैसे कोई छाया गगनमें आश्रमद्वारसे दूर हो निकल गयी हो। महाराजका ध्यान उधर गया। द्वारसे यज्ञीय अश्व प्रविष्ट हो रहा था। उन्होंने चौंककर देखा—सिंहासन रिक्त है। गुरुदेव विह्वल हो रहे हैं। 'प्रभो!' महाराज भावविभोर होकर भूमिपर गिर गये।

साधन और साध्य

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।३।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

'यही वह पीपल है ।' महात्माने इधर-उधर देखकर अपना निश्चय दृढ़ किया । 'ठीक इसी स्थानको मैंने कल स्वप्नमें देखा है । इसीकी जड़के नीचे होना चाहिये उस श्रीविग्रहको ।'

'निश्चय यहाँ कोई प्राचीन भवन रहा होगा ।' साथके तरुणने देखा कि भूमि यद्यपि तृणोंसे ढक गयी है, कोई विशेष चिह्न बाहर नहीं, फिर भी वहाँ कँटीली लताएँ ही यत्र-तत्र उग और बढ़ सकी हैं । पीपलके अतिरिक्त दूसरा कोई बड़ा वृक्ष आसपास नहीं । भूमि कँकरीली है, यह तो स्पष्ट ही था । 'ये छोटे कंकड़ ईंटोंके टुकड़े हैं । मिट्टीके स्वाभाविक कंकड़ यहाँ कम दीखते हैं । खोदनेपर ईंटोंके बड़े टुकड़े निकलेंगे ।'

'तुम कितनी देरमें इसे काट सकोगे ?' महात्माने अभी स्नान नहीं किया है । वे आध कोस दूर सरितातटपर

जानेको उद्यत हुए। 'मैं चाहता हूँ कि इसकी जड़ मेरे ही सम्मुख खोदी जाय।'

'दोपहरसे पहले तो इसके गिरनेकी आशा नहीं।' तरुणने ध्यानसे पीपलके तनेकी मोटाई देखी। वह इस कामका अभ्यस्त नहीं। यदि महात्माका यह आग्रह न होता कि कोई तीसरा व्यक्ति साथ न चले तो बढ़इयोंसे यह काम करा लेना सरल होता।

'मैं शीघ्र लौटनेका प्रयत्न करूँगा।' साधु नित्यकर्मसे निवृत्त होनेकी शीघ्रतामें थे। 'थक जानेपर विश्राम कर लेना। आते ही मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।'

'जय यणेश! जय शम्भो!' तरुणने कुदाल एक ओर रख दी और कुल्हाड़ा सम्हाला! पहला आघात करते ही वह समझ गया कि काम उतना सरल नहीं, जितना वह समझ रहा था। इस सूखे पीपलके तनेपर उसका कुल्हाड़ा उछल गया था। लकड़ीका बहुत छोटा-सा टुकड़ा पृथक् गिरा। केवल एक चिह्न भर बन सका तनेपर।

'ठक्-ठक्-ठक्' तरुण कुल्हाड़ेपर कुल्हाड़ा चलाता जा रहा था। कभी यहाँ और कभी वहाँ, इधर-उधर तनेपर चिह्न बनते जा रहे थे। नन्हें लकड़ीके टुकड़े उछलकर कभी दूर गिरते और कभी मस्तक, हाथ या और किसी अङ्गपर चोट पहुँचाते। जिसने कभी लकड़ी नहीं काटी, उसके हाथ कैसे सधे स्थानपर पड़ें। वह जितना प्रयत्न करता, कुल्हाड़ा उतनी दूर लगता। कई बार उचटे कुल्हाड़ेकी चोट उसे लगते-लगते बची।

हाथ लाल हो गये, भालसे बिन्दु टपकने लगे। बार-बार कुल्हाड़ेको वृक्षमें अटकाकर बायें हाथकी तर्जनीसे उसने मस्तकका पसीना पोंछा। अभी तो कुछ इञ्च ही तना कट सका है। इस गतिसे तो वह तीन दिनमें भी नहीं कटेगा। काटना उसीको है; परंतु अब कुल्हाड़ा उठानेमें भी भुजाएँ दर्द करती हैं।

'काटेगा वह—उसे ही काटना है। महात्माजीके लौटनेसे पूर्व कम-से-कम चारों ओरकी छालकी मोटाई तो काट ही देनी है।' वेग घटता जा रहा था। उसने शरीरके साथ बलप्रयोग प्रारम्भ कर दिया था। 'ठक्!' एक बार पूरे वेगसे मारनेपर आशा थी कि बड़ा-सा चप्पड़ टूटेगा। लकड़ी जहाँसे स्वतः तड़क गयी है, वहाँसे अधिक कटे और बड़ा टुकड़ा गिरे; परंतु उस फटी संधिमें तो कुल्हाड़ा ही अटक गया।

उसने हिलाया, बल लगाया और जब कुल्हाड़ेको हिला न सका तो बैठ गया। थोड़ी देर विश्राम कर लेना ठीक है। वह बहुत थक भी गया है। हाथ लाल हो गये हैं। कदाचित् छाले पड़नेवाले हैं। महात्माजीको लौटनेमें अभी बहुत देर होगी।

'वह, कोई आ रहा है। महात्माजी-जैसे ही लगते हैं। वही हैं हाथमें वह क्या तुम्बी दीखती है।' झटसे उठ खड़ा हुआ। वह थक गया है, यह महात्माजीपर प्रकट हो, इसकी उसे तनिक भी इच्छा नहीं थी। झटपट उसने कुल्हाड़ा पकड़ा। 'ठक्-ठक्' वेगसे वह आघात कर सके तो महात्मा दूरसे—उसका कार्य चलता है—यह जान सकेंगे।

कुल्हाड़ा तो लकड़ीकी दरारमें जा अटका है। वह तो हिलता ही नहीं। उसने बहुत प्रयत्न किया। पूरा बल लगाया। कोई लाभ नहीं। कुछ झुँझलाहट आयी। दोनों ओर बगलोंमें दबाने लगा उसे।

'मैं देखता हूँ, तुम रहने दो!' साधुने कमण्डलु भूमिपर रक्खा। उसने पूरे बलसे एक ओर दबाया और उठा लिया, पर—पर कुल्डाड़ेका धारवाला पतला भाग टूट गया था।

'कोई चिन्ता नहीं! तुम बढ़ईके यहाँसे खूब सुदृढ़ कुल्हाड़ा ले आओ। पीपल इस कच्चे लोहेसे कटनेसे रहा! मैं प्रतीक्षा करूँगा।' उसके पास ग्राममें जाकर दूसरा कुल्हाड़ा लानेके अतिरिक्त उपाय भी क्या था।

× × ×

(२)

'यह जीवन-मरणका चक्र कैसे छूटे?' प्रश्न सीधा पर श्रद्धासमन्वित था। ब्राह्मणकुलमें जन्म, सम्पन्न तथा सदाचारी परिवार ये बड़े पुण्यसे प्राप्त होते हैं। उसने इसके साथ स्वयं नम्रता, और शीलका अर्जन किया था। अध्ययन यदि विशुद्ध हो तो विद्या वैराग्यका कारण बनेगी ही। उसे स्वाध्यायका व्यसन था। समीप किसी महात्माके आनेपर उनकी सेवाका प्रयत्न एवं सत्संगका लाभ छोड़ना उसके स्वभावमें नहीं था। प्रातः किसीने समाचार दिया कि गङ्गातटपर एक विरक्त संत पधारे

हैं। वह उसी समय चल पड़ा था। महात्माओंके समीप कुशल-प्रश्न तो जिज्ञासा और समाधानस्वरूप ही ठीक है।

‘बिना श्रीहरिका सान्निध्य पाये जीवका जन्म-मरण कैसे छूट सकता है। महात्मा तनिक सीधे बैठ गये। उस समय वहाँ दूसरा कोई न था। पलाशके पत्तोंमें छनकर आती किरणें उनके मुखको दीप्तिमय बना रही थी। ‘जीव जबतक मायाकी परिधिमें है, उसे आवागमनसे मुक्ति कहाँ। उसकी मुक्ति तो इस मायिक जगत्‌से पार पहुँचकर होती है। प्रभुके परधामको प्राप्त करके ही वह पुनः यहाँ नहीं लौटता।’

‘श्रीहरिका वह सान्निध्य कैसे प्राप्त हो?’ तरुणने चरण पकड़े।

‘उपासना और प्रेमके द्वारा वह प्राप्त होता है।’

‘उपासना?’ तरुणका सन्तोष सूत्रोंसे कैसे हो जाय।

‘अधिकारके अनुरूप आराध्य-विग्रहकी अर्चा और उसीका ध्यान, चिन्तन, गुणगान, मन्त्र एवं नाम-जप।’

‘मैं अपने अधिकारको समझ सकूँ, इतनी शक्ति नहीं है!’ तरुणने भावक्षुब्ध प्रार्थना की।

‘तब कल आओ!’ पता नहीं क्यों महात्माने उसे उस समय विदा करना चाहा। अधिकारकी परीक्षा जिज्ञासाकी तीव्रतासे होती है। जिज्ञासाकी तीव्रताका परीक्षण या स्वयंकी कोई आवश्यकता होगी।

जिसमें समुचित जिज्ञासा है, वह 'कल' तो क्या 'एक वर्ष या एक युग' की भी प्रतीक्षा कर लेगा। विश्वास भर होना चाहिये। दूसरे दिन तरुण ठीक उसी समय उपस्थित हो गया।

'कहींसे एक अच्छा कुल्हाड़ा ले आओ!' महात्माने आदेश दिया 'खूब मोटा-सा एक पीपल काटना है। हम दोनोंके अतिरिक्त तीसरा साथ नहीं चलेगा।'

'पीपल काटना है!' तरुणके स्वरमें आश्चर्य था। पीपल काटना तो शास्त्रनिषिद्ध है।

'चौंको मत! उसकी कोई प्रतिष्ठा अब नहीं। सूखकर ठूँठ हो गया है।' साधुने तरुणका असमंजस लक्षित कर लिया। 'उसका न तो वह स्वरूप है, जैसा तुम समझते हो और न उसमें जीवन ही है, पर है बड़ा सुदृढ़ मूल।'

'मैंने कल स्वप्नमें वह स्थान देखा है। यहाँसे समीप ही होना चाहिये।' तरुण कुल्हाड़ेके साथ कुदाल भी साथ लाया था। वृक्षकी जड़ खोदकर कहीं काटनेकी आवश्यकता हुई तो वह काम आवेगी। महात्मा बात रहे थे 'पता नहीं कबका वह पीपल है। कोई उसका आदि नहीं जानता। हम लोग न काटें तो पता नहीं कबतक रहेगा। कोई नहीं बता सकता उसका अन्त। उसके मूलके नीचे श्रीहरिका सुन्दर श्रीविग्रह है।'

'श्रीविग्रह अश्वत्थके नीचे।' तरुणने स्वाभाविक कुतूहलसे पूछा। 'हाँ, भाई! श्यामसुन्दर अश्वत्थ-मूलके नीचे छिपे हैं। अश्वत्थको काटकर, फिर उन्हें ढूंढ़ना है।' महात्माका स्वर विचित्र गम्भीर हो गया था।

'प्रभु आज मेरे यहाँ भिक्षा स्वीकार करेंगे।' तरुणने मार्गमें चलते-चलते अनुरोध किया।

'अभी तो तुम अश्वत्थको काटने चल रहे हो!' महात्मा खिलखिलाकर हँस पड़े। 'वहाँ सफल होनेपर क्या लौटना हो सकता है।'

'बहुत बड़ा पीपल होगा। उसे काटते-काटते ही सायंकाल हो जाय तो आश्चर्य नहीं। उसकी जड़ भी खोदनी है, पता नहीं कितने नीचेतक। ऐसी दशामें वहाँसे लौटना कैसे सम्भव है।' तरुणने संतके शब्दोंका अर्थ अपने भावके अनुसार लगा लिया। सायंकालतक कार्य करना है। कदाचित् रात्रिको भी जुटे रहना पड़े। क्या भोजन मिलेगा, कैसे रात्रि व्यतीत होगी, यह सब प्रश्न मनमें ही नहीं आये। पीपलके नीचेसे श्रीहरिका कोई प्राचीन विग्रह मिलेगा, यह क्या कम उत्साहप्रद आशा है। उत्साह प्रबल हो तो क्षुधापिपासा कैसी।

'तुम अकेले पीपल काट सको, ऐसा धैर्य तो है?' साधुने पता नहीं क्यों परीक्षा लेना आवश्यक मानकर पूछा। 'मैं तुम्हारी बहुत थोड़ी सहायता कर सकता हूँ; केवल बतलाने और समझाने भर।'

'मैं उसे काट लूँगा।' तरुणको कोई सन्देह नहीं था। पीपल चाहे जितना मोटा हो, देर ही तो लगेगी। शामतक उसे गिराया नहीं जा सकेगा, ऐसी क्या बात है। उसने कभी लकड़ी नहीं काटी है तो क्या हुआ; यह भी

क्या कोई कला है। कुल्हाड़ा कुछ भारी अवश्य है; पर यह और सुविधाकी बात है। 'आप वृक्ष दिखला भर दें।'

'संकेत ही सम्भव है। हम समीप आ गये हैं!' साधु चले जा रहे थे।

(३)

'अरर् धाँ!' सन्ध्याकी अरुणिमामें पीपल नीड़ोंको लौटते पक्षियोंको चौंकाता गिर पड़ा।

'आज चाँदनी रात्रि है। पूर्णिमाके प्रकाशमें इसकी जड़का अन्वेषण कठिन नहीं होगा!' महात्माने देखा नहीं कि तरुण कुल्हाड़ा एक ओर फेंककर भूमिपर बैठ गया है और उसने पैर फैला दिये हैं। वह कदाचित् लेट जाना चाहता है। 'सायंकृत्य समाप्त करके फिर कार्यमें लगना चाहिये।' वे दो मील दूर नदीकी ओर मुड़ पड़े।

हाथोंमें छाले पड़े और फूट गये। शरीर जैसे गाँठ-गाँठसे व्रण हो गया हो। स्वेदकी धारा चल रही थी। साधुके कमण्डलुके जलके अतिरिक्त कण्ठमें कोई दाना दिनभरसे गया नहीं। परिश्रम—अनवरत परिश्रम। यदि महात्मा बराबर प्रोत्साहित न करते, उनकी झिड़कीका भय न होता तो वह कबका चला गया होता। यह भी ठीक है कि महात्माने यदि उसे बराबर वृक्ष काटनेकी

कलाके सम्बन्धमें निर्देश न दिये होते तो वह सफल न होता। उन्होंने ही उसे लक्ष्यपर आघात करना, सूखी लकड़ीकी दरारोंसे लाभ उठाना, बड़े चप्पड़ निकालना सिखाया। इतनी सरलतासे वृक्ष कटा उन्हींकी कृपासे; किंतु अब वह इतना श्रान्त हो गया है कि उठनेकी इच्छा ही नहीं होती। चेष्टा करके भी उठ सकेगा, इसमें सन्देह है।

सन्ध्या करनेकी इतनी इच्छा नहीं थी, जितनी महात्माकी भीति। किसी प्रकार वह उठा। वह दो मील उसे दो दिनका मार्ग प्रतीत हुआ, परंतु वायुने स्वेद सुखा दिया। स्नानसे श्रम दूर हुआ। सन्ध्या करनेकी स्थितिमें शरीर आया।

'बड़े तीक्ष्ण शस्त्रसे जो पर्याप्त सुदृढ़ हो, पीपल काटना है। पूरी दृढ़ता, धैर्य तथा श्रमसे ही वह कटेगा। पीपलकी जड़में ही वह श्रीधाम है, जिसे पाकर आवागमनसे परित्राण मिल जाता है।' महात्माने सन्ध्याके आसनपर बैठते-बैठते उसकी ओर गम्भीर दृष्टिसे देखकर कहा।

'पीपल तो कट गया!' उसने सोचा, कदाचित् महात्माजी ध्यानकी स्थितिके कारण आजके इस श्रमको भूल गये हैं। कहीं कोई और पीपल तो नहीं काटना है; उसे यह भी सन्देह हुआ। वह तो इस आशङ्कासे ही निराश हो गया। दिनभर उसे जो श्रम करना पड़ा है, वही अकल्पित है। उसकी पुनरावृत्ति करनी हो तो? उसकी शक्तिके बाहरकी बात है यह।

'पीपल कटता कहाँ है। वह तो अनादि है। अनन्त है। उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप या स्थिति हो तो वह कटे भी।' महात्मा पता नहीं क्या कह रहे थे। 'पीपलका वास्तविक मूल तो ऊपर है। उसकी नीचे चारों ओर फैली जड़ें ही काट दी जायँ तो बहुत। इन जड़ोंको काटकर उसके मूलका अन्वेषण करना है।'

'अभी लौटकर मैं मूलको खोदूँगा, परंतु पीपलकी ऊपरकी जड़ें क्या? हमने जिस पीपलको काटा है, उसकी कोई जड़ें मिट्टीसे ऊपर नहीं।' तरुणकी समझमें बात आयी नहीं। उसने देखा कि यदि नीचेकी मूसला जड़को छोड़कर ऊपर गयी कोई जड़ खोदनी है तो वह चाहे जितनी दूर गयी हो, सीधे नीचे खोदनेकी अपेक्षा श्रम कम ही पड़ेगा।

'तुम सन्ध्या कर लो!' महात्माने देखा कि तरुण इस प्रकार कुछ समझ सके, ऐसी मानसिक स्थितिमें नहीं है।

पीपलकी जड़ खोदी गयी। इधर-उधर फैली जड़ें काट दी गयीं। नीचेकी जड़ पता नहीं कितनी गहरी गयी है। तरुणके हाथोंके छाले पहलेसे घाव बन गये हैं। शरीर अपने वशमें नहीं है। उसे लगता है, यह जड़ पातालतक तो नहीं गयी है। थोड़ी-सी मिट्टी खोदकर वह उसे बाहर फेंकनेके लिए बैठ जाता है। प्रत्येक बार उठना उसके लिए भारी होता है।

मूल खोदना—खोदना ही है। वहाँ मूलमें कहीं श्रीहरिका मङ्गल-विग्रह है। उसे पाते ही वह मुक्त हो जायगा। महात्माका प्रोत्साहन है। वह जुटा है—जुटा है।

शरीरकी शक्ति अन्ततः सीमा रखती है। सिरमें चक्कर आने लगे हैं। कुदाली उठाकर चलाते समय अँधेरा हो जाता है। पता नहीं लगता कि कहाँ कुदाल गिर रही है।

वह गिरेगा—अब गिरेगा ! बहुत सम्हालने, चेष्टा करनेपर भी वह एक बार कुदालीके साथ गिरा ही। 'ठक् !' जैसे किसी पत्थरपर कुदाल टकरायी हो। महात्माजीने लपककर हाथोंसे मिट्टी हटाकर कुछ उठा लिया। उसे कुछ पता नहीं—जैसे पृथ्वी घूम रही है।

'कितनी मनोहारी विग्रह है !' कमण्डलुके जलसे विग्रहको प्रक्षालित किया महात्माजीने।

'ओह, मेरे प्रभु !' जैसे उसमें नवीन प्राण आ गये हों ! उसने दोनों हाथ उठाकर बैठे-बैठे ही मूर्ति ले ली। मस्तकसे श्रीविग्रहके चरण लगाते ही नेत्रोंसे धाराएँ फूट निकलीं !

'यही बतलावेंगे कि वह अश्वत्थ कहाँ है, कैसा है ! इन्हींकी कृपासे उसकी सुदृढ़ जड़ोंको काटने योग्य कुल्हाड़ा मिलता है। जड़े काटकर इन्हींके उस पदका अन्वेषण होता है, जहाँ जाकर कोई फिर लौटता नहीं ! तुम उसी अश्वत्थको काटो !' महात्माकी वाणी उसने सुन ली; किंतु जब भावावेशसे सावधान होकर उसने गड्ढेसे ऊपर देखा, महात्मा जा चुके थे। एक ओर कुदाली पड़ी थी पासमें और ऊपर था कुल्हाड़ा। थोड़ी-सी भूमि जलसे गीली दीखती थी।

(४)

'बन्धन क्या है ? लोकमें व्याप्त मनुष्यकी आसक्ति—

सङ्ग !' वह मूर्ति अपनी गम्भीर दृष्टिमें पता नहीं क्या भाव लिये है। काले पत्थरकी शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी एक छोटी-सी कलापूर्ण मूर्ति। घर लाकर जब उसने भली प्रकार उसे स्वच्छ किया तो उसे लगा, श्रीविग्रहरूप नारायण उसीकी ओर बड़े ध्यानसे देख रहे हैं और उनके अधर-सम्पुट कुछ कहना ही चाहते हैं। छोटी-सी चौकी उनका सिंहासन बनी और वह पुजारी बन गया। नित्य पूजाके पश्चात् नीराजन करके जब वह आसनपर प्रार्थनाके अनन्तर बैठता है, उसकी दृष्टि श्रीविग्रहपर स्थिर हो जाती है। वह उस आराध्यकी दृष्टिको समझना चाहता है। आप चाहें तो इसे ध्यान कह लें।

श्रीविग्रह कैसे उसके यहाँ पधारे? क्या उद्देश्य था उसका इस मूर्तिको लानेमें? सब कुछ स्मरण होकर भी जैसे विस्मृत हो गया है। प्रभु उसपर कृपा करके पधारे हैं। उसका सौभाग्य है कि वह सेवा कर पाता है थोड़ी-सी। दूसरी सब बातें जैसे अनावश्यक हो गयीं। उसके भगवान् सुन्दर, माधुर्यकी मूर्ति प्रभु। उनकी पूजाका आनन्द क्या कम है जो मनुष्य कुछ और चाहे? इस पूजाके सुखसे बड़े किसी सुखकी कल्पना हो, तो उसकी इच्छा भी शक्य है; पर यह अपार आनन्द!

इतनेपर भी पूजाके अनन्तर वह प्रभुके नेत्रोंकी ओर एकटक देखता है कुछ देर। यह स्वभाव हो गया है। लगता है, प्रभु कुछ कहने ही वाले हैं। सचमुच आज तो वह बोल ही पड़े हैं। हृदयके अन्तरतम प्रदेशसे यह और किसकी वाणी गूँजने लगी है। वह शान्त बैठा रहा।

'सङ्ग ही कर्मोमें बन्धन उत्पन्न करता है। जीवने अपनी आसक्तिके सूत्र लोकमें फैला दिये हैं। बड़े सुदृढ़ हो गये हैं ये कर्मबन्धन ! प्रगाढ़ अनासक्ति—दृढ़ असङ्ग ही इनको काट सकता है ! मुझमें जिसके मनका सङ्ग हो गया, लोकसङ्ग उसका स्वतः ही उच्छिन्न हो जायगा !' वह सुनता रहा उस सुधास्यन्दिनी दिव्य वाणीको।

'वत्स ! तुमने अश्वत्थ काट लिया !' सहसा उसने पीछे देखा। पता नहीं कबसे उसके पीछे वे महात्मा आकर खड़े थे, जिनके अनुग्रहसे वह प्रभुका श्रीविग्रह पा सका था।

'प्रभु !' वैसे ही उसने चरणोंपर मस्तक रख दिया।

'वह पद जहाँ जाकर कोई फिर लौटता नहीं; वह नित्य अन्वेषणीय है !' महात्माकी दृष्टि श्रीविग्रहपर थी और वे धीरे-धीरे हँस रहे थे।

'अश्वत्थ तो कटता ही नहीं !' उसने भी उठकर हँसते हुए ही कहा। 'यह अनादि, अनन्त विश्व जिसकी भली प्रकार कोई स्पष्ट तत्त्वतः स्थिति नहीं, इस अव्ययको काटा कैसे जा सकता है।' वाणीमें प्रश्न नहीं, कौतुक ही था।

'विश्व किसीका बिगाड़ता भी क्या है।' महात्मा प्रसन्न थे। 'इसकी नीचे फैली जड़ें—आसक्तिके बन्धनमय कर्मसूत्र तो तुमने नष्ट कर ही दिये।'

'श्रीचरणोंका अनुग्रह !' कृतज्ञतासे उसने मस्तक झुकाया !

'असङ्ग–अनासक्तिका दृढ़ शस्त्र केवल इस कर्मासक्तिका नाश करता है। यहीं बस नहीं है। अश्वत्थमूलका

इसके पश्चात् अन्वेषण करना चाहिये, सतत अन्वेषण ! प्रभुने कृपा करके तुम्हें अपनी ओर आकृष्ट किया है।' गुरुने शिष्यको प्रोत्साहन दिया।

'अन्वेषण ही या………।'

'तुमने अश्वत्थ-मूल खोदा ही था न ! जब तुम श्रान्त होकर असमर्थ हो गये थे।' महात्माने संकेतसे ही समझा दिया कि वह साधन साध्य नहीं। अन्वेषण तो अपनी शक्तिकी सीमाको श्रान्त कर देनेके लिए है। वह तो उस श्रान्तिकी सीमापर अपनी कृपासे स्वयं उपलब्ध होती है।

'उस दिन यदि मैं उतना न खोद सका होता !' अब भी उसे सन्देह था कि साधनको एक निश्चित सीमातक पहुँचाना ही है।

'तुमसे बलवान् अधिक खोद सकता था और निर्बल कम !' महात्मा गम्भीर हो गये 'तुम भूलते हो जब सोचते हो कि तुम एक जड़ मूर्तिका अन्वेषण कर रहे थे। थकनेकी सीमापर दोनोंको पहुँचना पड़ता और जो जहाँ थक जाता, श्रीविग्रह उसे वहीं मिलता। जिसकी दृष्टिकी सीमा जहाँ है, वहीं उसके लिए क्षितिजकी नीलिमा है।'

'मैं अब और किसका अन्वेषण करूँ ?' उसने श्रीविग्रहके सम्मुख मस्तक झुकाया और बैठ गया। 'इससे अधिक तो उसकी शक्ति नहीं।'

'वह अन्वेषणीय पद इन भूमासे भिन्न कहाँ है !' संतकी वाणीने उसे दृष्टि उठानेको प्रेरित किया। उसे लगा उसकी आराध्य मूर्ति सहस्र-सहस्र सूर्यकी प्रभासे मण्डित हो गयी है और दिशाएँ दिव्य गन्धसे झूम उठी हैं।

शरणागति

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

'ओह, रात्रिका प्रारम्भ हो गया है।' जब वह उस अत्यन्त शीतकी मूर्छासे जगा, तब और भी भयभीत हो गया। आकाशमें तारे खूब खिले थे। बिजलीकी लहरें एक प्रकारका हल्का नीला आकाश फैला रही थीं। आकाश स्वच्छ हो गया था। वहाँ कुहरे या हिमका नाम भी नहीं था।

चारों ओर एक-सी बर्फ बिछी थी। आकाशीय विद्युत्के प्रकाशमें नीली-सी उज्ज्वलताके अतिरिक्त जहाँतक दृष्टि जाती, और कुछ था ही नहीं; उसने किसी प्रकार अपनेको सम्हालना चाहा। अब उसे पता लगा कि प्रायः पूरा ही शरीर बर्फसे ढँका हुआ है। मस्तक हिलाकर रूईके समान हल्की बर्फ उसने दूर की। हाथोंको स्वतन्त्र करनेमें कठिनाई नहीं हुई। फिर तो धीरे-धीरे उसने पूरे शरीरपरसे वह गीली ठंडी रूई हटा दी।

वस्त्र झाड़नेपर भी सूख तो सकते नहीं थे। वे गीले हो गये थे। शरीर उसे अकड़ता हुआ जान पड़ा। कण्ठ सूख रहा था और भीतर बड़ी गरमी जान पड़ती थी। वह बहुत शीघ्र समझ गया कि शरीरकी छूनेकी शक्ति

सरदीसे लुप्त हो गयी है और नाड़ियोंमें रक्तका जमना प्रारम्भ हो रहा है। यह भीतर हिम-प्रदाहकी ही उष्णता है। शरीरपर बर्फदंशसे कई स्थानोंपर घाव हो गये थे; किन्तु नाड़ियोंके ठिठुर जानेसे उनमें-से रक्त नहीं निकल सकता था। यदि कोई मार्ग गरमी प्राप्त करनेका शीघ्र न मिला तो वह बर्फमें उसीका एक अंश बन जायगा थोड़ी ही देरमें जमकर।

किसी प्रकार उसने उठनेका प्रयत्न किया। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, केवल बर्फ ही बर्फ थी। समतल हिमभूमिके अतिरिक्त न पेड़ थे, न पर्वत। नगर, ग्राम, भवन—किसीका कोई चिह्न कहीं नहीं था। दाँत कटकटा रहे थे। नेत्रकी पलकें भारी हो गयी थीं। पैर अपने वशमें न थे। किसी प्रकार उठकर खड़ा हुआ था। चलनेके लिए पैर बढ़ाते ही गिर पड़ा। भगवान्‌को प्राण-रक्षा करनी थी। यदि हाथोंमें वह कठोर बर्फीला भाग न आ गया होता, जहाँ वह बैठा था, तो फिर क्या पता लगना था। पता नहीं कितनी गहरी कच्ची बर्फ थी। इस दलदलमें डूबनेपर फिर उठना कैसा। हाथोंमें प्राण जैसे आ बैठे हों। छातीतक शरीर बर्फमें धँस चुका था सहसा गिरते ही। हाथोंके सहारे ऊपर टीलेपर आ सका।

'यहाँसे हिला भी नहीं जा सकता।' बड़ी निराशासे उसने चारों ओर देखा। वह पर्वतके एक शिखरपर है। चारों ओरकी भूमि कच्ची बर्फसे पर्वतके समान हो गयी है। पैर हटे और गड़ाप्‌से गया उसमें। यहीं रहे, तो भी सर्दी उसका हिलना बंद कर देगी।

'गरमी।' कहाँ मिलेगी गरमी इस समय? यदि रात्रिका प्रारम्भ कहीं आज ही हुआ हो तो प्रातःकाल होनेमें छः महीनेकी देर है। यहाँ छः क्षण भी छः युग हैं। अन्तमें उसे एक युक्ति सूझ पड़ी। धीरेसे बैठ गया। शरीर अकड़ रहा था, आसन लगाना बहुत सरल नहीं था; परन्तु जितना सम्भव था, सीधा बैठा वह।

'रं, रं, रं' स्वाधिष्ठानचक्रकी लाल कमलकी कर्णिकाके त्रिकोण-यन्त्रमें महाज्वाला-प्रज्वलित रक्तवर्ण, मेषवाहन, दो मुखोंवाले, सोनेसे केशोंवाले भगवान् अग्निका ध्यान करने लगा वह। नेत्र बंद हो गये। शरीर सीधा हुआ। बीजमन्त्रका स्वर स्पष्ट हुआ। उठा और उठता गया। स्वरने नादका उत्थान किया। शरीरका तनाव दूर हो चुका था। बर्फ पिछलने लगी। उसके समीपसे और चारों ओर हल्का जल-प्रवाह-सा चलने लगा।

'रं, रं, रं' नाद गूँजता गया। नेत्र बंद रहे। उसे पता नहीं था शरीरका। उसे पता नहीं था कि शरीरसे पसीना चलने लगा है। 'भगवान् अग्नि, उनका लाल वर्ण, उनके मुखोंसे निकलती ज्वालाएँ और उनसे प्रकाश, ताप, तेज,!' ध्यान कर रहा था वह।

'रं, रं, रं' नादका व्यञ्जन लुप्त होता जा रहा है। 'अं, अं, अं' तेजोमण्डल—महाज्योतिर्मय प्रचण्ड तेज- उसके भीतरी नेत्र भी उस तेजको सहन न कर सके। नेत्र खुल गये। नाद समाप्त हो गया। उसने अनुभव किया कि अब वह उठ सकता है सरलतासे।

उसके वस्त्र पसीनेसे कुछ गीले हो गये थे, परन्तु पहलेसे सूखे थे। वह एक काले पत्थरकी शिलापर बैठा था, जिसकी बर्फ अभी ही जल बनकर बह चुकी है।

अग्निकी अन्तर्धारणा, वह उसे बंद न करता तो शरीर भस्म हो जाता; किंतु ध्यानसे उठते ही यह तो कठोर शीतका पुनः अनुभव होने लगा है! एक छोटी-सी शिला – जिसपर वह है, सम्भवतः उसको छोड़कर बर्फने पूरे जगत्को निगल लिया है। कहीं जीव या सृष्टिका कोई चिह्न नहीं। कबतक वह इस प्रकार बार-बार अग्निकी धारणा करता रहेगा? अन्न-जलसे हीन इस बर्फभूमिपर, जहाँ दूसरा कोई जीवन-चिह्न नहीं, सृष्टिकर्ताने क्यों उसे जीवित रक्खा? क्या कर सकेगा वह यहाँ? चिन्ता एवं व्याकुलताने उसे अस्त-व्यस्त कर दिया।

(२)

'सत्त्वगुणका धर्म है शीतलता, वह तो आदरके योग्य है!' कुछ उच्छृङ्खल युवक हँस पड़े थे अपनेमें-से एककी यह व्यङ्गोक्ति सुनकर।

'ऐश्वर्यने तुम्हें अन्धा कर दिया है। मर्यादाका तुम्हें ध्यान नहीं रहा है।' महर्षि क्रोधित हुए। उन्होंने अपने कमण्डलुके जलसे आचमन करके हाथमें जल लिया — 'यह शुभ्र शीतलता तुम्हारे इस पूरे उन्मद प्रदेशको सायंकालकी समाप्तिके पूर्व ही आत्मसात् कर लेगी।'

'शाप !' एकके मुखसे चीख निकल गयी।

'शाप !' दूसरा पीला पड़ गया।

'शाप ! शाप ! शाप !' बात कुछ क्षणोंमें फैलने लगी और दो घड़ीमें तो घर-घर इसीकी चर्चा थी। सबके हृदय भयसे काँप रहे थे। लोगोंके मुखोंपर त्रासके भाव स्पष्ट हो गये थे। इधर-उधर दौड़-धूप मची हुई थी।

'महर्षि दुर्वासा विख्यात क्रोधी हैं। उनके शापका उपाय वही कर सकते हैं।' वहाँके विद्वानोंके पास एक ही उत्तर था 'महर्षिसे क्षमा-याचना की जाय।'

'महर्षिका तो कहीं पता नहीं।' उन अव्याहतगतिको मनुष्य कैसे पा सकता है। शाप देकर जब वे अन्तर्हित हो गये, तब इसका क्या ठिकाना कि वे पृथ्वीपर ही होंगे। देवलोक, सिद्धलोक, गन्धर्व लोकादि—जहाँ उनका पदार्पण हो, वहीं स्वागत होगा।

'मुझे शीघ्र कोई उष्ण स्थान बतलाओ। यहाँकी शीतलता मेरे ध्यानके उपयुक्त नहीं।' महर्षिने ठीक ही कहा था। उतावलीमें रहना उनका स्वभाव है और उचित स्वभाव है। जो नित्य अन्तरके आनन्दसिन्धुमें निमग्न रहनेका अभ्यासी है, उसे संसारमें जगनेका प्रत्येक क्षण व्याकुल करेगा ही। एक तो दक्षिणी ध्रुवका यह प्रदेश यों ही शीतल है, दूसरे यहाँका सायंकाल चल रहा है। भगवान् भास्कर ऊपर क्षितिजपर दूर अरुणाभ होते जा रहे हैं। महर्षि, पता नहीं किसके पुण्यसे इस आर्यनिन्दित देशमें पधारे थे; परन्तु भाग्य—यहाँके सायंकालकी समाप्तिमें तो अब केवल आठ प्रहरका विलम्ब है।

उस समय दक्षिणी ध्रुवका अण्टारक्टिक्-का प्रान्त आज-जैसा हिमदेश नहीं था। यद्यपि वहाँ छः महीने लंबे दिन, वैसी ही लंबी रात्रियाँ और लंबे संध्याकाल आजकी ही भाँति होते थे; परंतु वहाँकी स्थिति ऐसी नहीं थी कि वहाँ प्राणी एवं वनस्पति जीवन न धारण कर सकें।

आरम्भमें वहाँ सघन वन था। स्वच्छ शीतल जलपूर्ण नदियाँ थीं। उच्च शिखरोंवाले पर्वत थे। महर्षि वशिष्ठके शापसे सूर्यवंशी मनुपुत्र महाराज पृषध्र म्लेच्छत्वको प्राप्त हुए। गुरुकी गायोंकी रक्षा करते समय अन्धकारपूर्ण रात्रिमें सिंहके आनेपर उन्होंने आघात किया और भूलसे एक गौ घायल हो गयी। यही उनका अपराध था। उन्होंने खिन्न होकर आर्यावर्त छोड़ दिया। कालक्रमसे उनकी सन्तानें दक्षिणमें फैलती गयीं। दक्षिण ध्रुवके प्रदेशको उन्होंने जनपूर्ण कर दिया।

जंगल खेतोंमें बदल गये। बड़े-बड़े नगर और ग्राम बने। महाराजकी सन्ततिने अपने कुल-पुरुष भगवान् सूर्यके भव्य-मन्दिर बनाये। कला-कौशलने देशको धन-धान्यसे पूर्ण कर दिया।

सम्पत्ति आयी, शूरता आयी; परंतु साथ ही औद्धत्य एवं उच्छृङ्खलता भी आयी। महाराज पृषध्र शाप पाकर ही भारतसे निर्वासित हुए थे। उनके साथ कोई ब्राह्मण नहीं थे और न थे कोई पुरोहित। यज्ञोपवीत एवं अग्निकी आराधनाका भी उन्हें अधिकार नहीं रह गया था। भगवान् सूर्यकी कुल-पुरुषरूपमें वे उपासना करते रहे। उनको

सन्तति शस्त्र एवं भौतिक कलाओंमें निपुण होकर भी श्रुति तथा श्रुतिके आचारसे वञ्चित रही ।

ऐश्वर्यके साथ परमार्थकी शिक्षा न हो तो स्वाभाविक ही भोगवृत्ति बढ़ती है। आज सैकड़ों वर्षोंके पश्चात् आर्योंसे निन्दित इस म्लेच्छभूमिमें महर्षि दुर्वासा पधारे थे। उनकी सेवासे जाति कृतार्थ हो जाती, परंतु विधाताकी इच्छा कुछ और थी—मिला शाप !

'महर्षिका शाप व्यर्थ हो, यह किसी प्रकार सम्भव नहीं।' पूरा नगर राजसभाके धर्माध्यक्षके सामने उपस्थित था। ये महाप्राण धर्माध्यक्ष एक बार आन्ध्रालय (आस्ट्रेलिया) तक जा चुके हैं। वहाँ इन्हें एक भारतीय योगिराजकी चरणसेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस आपत्तिमें उन्हींसे कुछ आशा हो सकती थी। धर्माध्यक्ष स्वयं मस्तक झुकाये गम्भीर चिन्तामें थे। उन्होंने एक बार सिर उठाया—'शापको सत्य मानकर ही आगेका प्रबन्ध हो सकता है और वह है भगवान् सूर्यकी शरणागति !'

'हमारी रक्षा कीजिये !' सबकी एक ही पुकार थी। कोई कुछ सुन नहीं रहा था। उस समाजने उपासनाकी शिक्षा ही व्यवस्थितरूपसे नहीं प्राप्त की ; फिर शापकी सत्यताको स्वीकार करना—कितना भयङ्कर बात। उसीसे तो रक्षा चाहिये।

'भगवान् ही कोई मार्ग निकाल सकते हैं।' धर्माध्यक्ष अपने स्थानसे उठे। लोगोंने क्या समझा, इसका उन्हें पता नहीं ; पर वे स्वयं उस शिखरपर पहुँचना चाहते थे

जहाँ, अनेकों बार एकान्त साधनाके लिए बैठ चुके हैं। उनकी मौन उपेक्षाने लोगोंको निराश कर दिया। लोग शापके परिणामसे बचनेका भौतिक उपाय पानेके सम्बन्धमें छोटे-छोटे गुटोंमें परामर्श करने लगे थे।

महाराजने राज्यके विद्वानों एवं विशेषज्ञोंको एकत्र करनेकी घोषणा की। घोषणा गली-गली, स्थान-स्थान प्रचारित हुई; किंतु जब विद्वानोंका समूह राजसभामें एकत्र हो रहा था, धर्माध्यक्ष पर्वत-शिखरपर आसन लगा चुके थे। उन्होंने देख लिया था कि क्षितिजपर वर्फके भयङ्कर मेघ एकत्र होने लगे हैं।

'यह हमारी समुन्नत जाति, महाराज पृषध्रकी यह सन्तति-परम्परा—क्या यह नष्ट हो जायगी।' धर्माध्यक्षने क्षितिजके उन मेघोंकी ओर देखा। 'वह आ रहा है महर्षिका साकार शाप! भगवान् नारायण!' नेत्र बंद हो गये। वे यहीं अपने आराध्यका आह्वान करनेके लिए दृढ़ चित्त थे।

(३)

बर्फ पड़नेके पश्चात् मूर्छासे जगनेपर उसे सब बातें धीरे-धीरे स्मरण हुईं। उसने पुकारा 'देव! नारायण!' आपत्तिकी पराकाष्ठा होनेपर ही सच्ची पुकार प्रकट होती है। मानव—वह एकाकी मानव इस दिगन्तव्यापिनी हिम-धवलताका क्या कर लेगा? बर्फ कठोर हो सकती है दो-चार दिनमें, परंतु वे दो-चार दिन—इस ठंढकमें तो

घंटे भी बर्ष हैं। यदि बर्फ कठोर भी हुई तो क्या लाभ ? जहाँ तृणका दर्शनतक दुर्लभ है, वहाँ मनुष्य कैसे जीवित रहेगा ?

'अभी तो रात्रिका प्रारम्भ ही होगा।' सच्ची पुकार सुनी न जाय, ऐसा कभी होता नहीं। वह चौंका यह देखकर कि भगवान् सूर्यका तेजोबिम्ब प्रकट हो रहा है। जहाँ रात्रि महीनों बड़ी होती है, वहाँ अभीसे सूर्य-दर्शन क्यों ? 'उषा:काल हुआ नहीं और भगवान् प्रकट हो गये।' बिम्ब ऊपर क्षितिजपर न होकर पश्चिमकी ओर था।

'यह वायव्य कोण—आज प्रभु इधर कैसे प्रकट हुए ? वह उसी ओर बढ़ा। उसे लगा कि बिम्ब दूर होता जा रहा है उसीकी गतिसे, जैसे कोई उसे मार्ग दिखलाता हो।

हमारा पर्वत—मैं उसपर उस दिशामें जा रहा हूँ, जहाँ नागोंके समूह रहते हैं।' एक बार उसकी गति रुक गयी। यह दिशा इस देशमें सदासे यात्राके लिए वर्जित थी। इस पर्वतके समतल शिखरपर जिसने यात्रा की, वह लौटकर नहीं आया। शताब्दियोंसे लोग कहते आ रहे हैं कि उस दिशामें घोर जंगलोंसे भरा महादेश है। वहाँ पातालसे आकर कामरूपधारी नाग निवास करते हैं। जो भी वहाँ जाता है, वह उनका आहार बन जाता है। भयसे उसके पैर एक बार रुके; किंतु वह ज्योतिर्बिम्ब उधर ही जा रहा है। प्रभु मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। रुका कैसे जा सकता है। यहाँ रुककर ही जीवनकी क्या आशा है।

वह तेजोमय बिम्ब बढ़ता जाता है—चलता जाता है। उसे अनुगमन करना है। 'कितना दिव्य, कितना सुन्दर, कितना समुज्ज्वल है वह बिम्ब!' जितना ही देखता है, मन उतना ही उसमें लगता जाता है। नेत्र स्थिर होते जा रहे हैं। पलकोंने गिरना बन्द कर दिया है। चरणोंमें गति है—बढ़ती जाती है। बिम्बको बढ़कर स्पर्श कर लेना है उसे।

शीतलता, दिशाओंमें व्याप्त हिमकी धवलता, उस सर्वग्रासी हिमके दल-दल, मार्ग—उसे कुछ पता नहीं। उसके वस्त्र सूख गये हैं; पर वह जानता है। भूख-प्यास-थकावट—इन सबका पता तो तब लगे, जब वह अपने आपेमें हो—शरीरका पता हो। वह तो उस दिव्यबिम्बमें तन्मय है। उसे पकड़ना, छूना, निकटसे देखना चाहता है।

हिमने अपना रूई-सा रूप छोड़ा और रेतके कणोंके समान उसमें खसखसापन आया। वह देशभूमि अपने एकमात्र बचे हुए पुरुषके, जो उसे छोड़कर जा रहा था, पदचिह्न अपने हृदयपर अङ्कित करने लगी। उसे पता नहीं। वह चला जा रहा था।

बिम्ब ऊपर उठा और अदृश्य हो गया। वह कितनी दूर चला है, कौन बताये। हिमाच्छादित भू-भाग एवं सागरको पार करनेमें उसे कितना समय लगा है, क्या साधन इसको जाननेका। उसने देखा कि वह एक जंगली प्रान्तमें है। चारों ओर ऊँचे घने वृक्ष, उनके तनोंसे लिपटी लताएँ और ऊँची घासोंसे ढकी भूमि। पुष्पोंकी राशिसे मानो सम्पूर्ण काननने शृङ्गार किया है।

'यही क्या नागदेश है?' उसके मनमें आशङ्का हुई और काँप उठा वह। इस तृणोंसे भरी भूमिमें, इस घोर वनमें महाकाय सर्प घूमते हों तो क्या आश्चर्य; किंतु उसे भय उन सर्पोंसे उतना नहीं था। वह तो उन नागोंसे था; जिनके सम्बन्धमें उसने सुना है कि वे पातालसे पृथ्वीके इस भागपर आ बसे हैं। बड़े क्रूर, स्वेच्छानुसार मानव शरीर धारण करनेवाले, सब कहीं पहुँचनेकी शक्ति रखनेवाले नागोंसे वह डर रहा था।

'महाराज पृषध्रका वंश नष्ट हो जायगा!' अपनी अपेक्षा उसे अपने पूर्वजोंकी अधिक चिन्ता है। उसने सुना है—'जिसके वंशमें कोई नहीं रह जाता, उसके पूर्वज ऊर्ध्वलोकसे गिर जाते हैं।' अब पृषध्र-वंशमें वह एकाकी बचा है। कैसे रहेगा यह वंश? इस नागदेशमें उसकी भी सुरक्षाका क्या ठिकाना? परन्तु उसे भयकी अपेक्षा भूख अधिक तंग कर रही है। थक भी बहुत ही गया है।' वृक्षोंसे फल तोड़े। झरनेमें सुस्वादु जल था ही। भोजनने भयको कुछ दूर किया। उस तृण-भूमिपर ही वह लेटा और सो गया।

(४)

'अनन्त नील समुद्र—सम्पूर्ण लोकोंकी सत्ताको व्याप्त करके पूर्ण। उसकी उत्तुङ्ग तरङ्गें। कहीं ग्रहनक्षत्रादिका नामतक नहीं।' वह ध्यानसे देख रहा था। ध्यान कर रहा था समुद्रके अतल-तलमें सहस्रफण मस्तक हिमश्वेत,

अनन्त विस्तीर्ण महानाग और उनके लोकविस्तृत कुण्डलीभूत भोगपर मणिमय आभरणोंसे विभूषित, रत्नकिरीटी, पीताम्बरपरिवेष्ठित महामरकतश्याम चतुर्भुज पुरुष आधे लेटे-से। उन अनन्त तेजोराशि पुरुषपर उसके नेत्र टिक न सके। पुरुषकी नाभिसे जो कमलनाल ऊपर उठा था, आलोकसे चकाचौंध-प्राप्त दृष्टि नालके सहारे ऊपर उठी।

'पाटलारुण सहस्रदलपद्म और उसकी पीताभ महाकर्णिकापर एक लाल वर्णके चतुर्मुख पुरुष आश्चर्यसे चारों ओर देखते हुए।' वह देखता रहा—युगोंतक देखता रहा वह। बालकने कमल-नाल पकड़ी और जलमें डुबकी लगायी। भला, कँटीली कमल-नालको पकड़कर कहाँतक पकड़े जाता वह। कुल सहस्र वर्षमें ही हारकर लौट आया। उदास होकर बैठ गया कमलपर। पता नहीं क्या हुआ—बालकने नेत्र बंद कर लिये। वह बहुत वर्षोंतक वैसे ही बैठा रहा और फिर सहसा अत्यन्त प्रसन्न हो गया।

'मैं उसी आदि परम पुरुषकी शरणमें हूँ, जिनसे प्राचीन कल्पोंकी सृष्टि प्रवृत्त हुई।' बालकने हाथ जोड़कर प्रार्थना की। सहसा उसके शरीरसे ऋषि, मुनि, गन्धर्व, देवता क्रमशः प्रकट होने लगे। वह तो सृष्टि करने लगा।

'आदि परम पुरुष कौन ? वे महाप्रकाशमय भगवान् आदिनारायण आदित्य या वे मणिमौलि, सहस्त्रशीर्षा, तारक-श्वेत महानाग ? उसने पूछा उस बालकसे।

'महानाग भगवान् शेषकी जय !' कोई पासमें ही मधुर कण्ठसे पुकार उठा। उसकी निद्राभंग हो गयी, वह चौंककर बैठ गया। इधर-उधर देखने लगा। 'महानाग-महानाग कौन ?' पूछा उसने।

'भगवान् शेषकी जय ! एक युवती समीप ही लता-कुञ्जके द्वारसे निकलकर आ रही थी।

'तुम—तुम नागिनी ?' भयसे उसका कण्ठ स्पष्ट नहीं हो सका। बड़ी शीघ्रतासे उठ खड़ा हुआ वह।

'हाँ, मैं नागकन्या हूँ !' युवती उसको भयातुर देखकर हँस पड़ी खुलकर। 'पर तुम ऐसे क्यों चौंक रहे हो ? पुरुष हो न तुम ! तुम क्या नाग नहीं हो ?' वह रुकी। उसने सोये हुये पुरुषको महानाग कहते सुनकर उसे नाग ही समझा था।

'मुझपर दया करो, नागकन्या ! मैं आपत्तिका मारा तुम्हारे देशमें आया हूँ ! मुझे काटो मत !' गिड़गिड़ाया वह। 'मैं दक्षिण ध्रुव देशका पृषध्रवंशीय उब्बट हूँ।' परिचय दिया उसने अपना।

'तो तुमने मुझे नागलोककी नागकन्या माना है क्या ?' वह ताली बजाकर बालिकाके समान हँस पड़ी। 'मेरे पूर्वज भारतसे यहाँ आकर बस गये पता नहीं किस युगमें। मैं महानाग भगवान् अनन्तकी उपासिका नागजातिकी मन्थुली हूँ।' उसने भी अपना नामके साथ पूरा परिचय दिया।

'तुम स्वेच्छानुसार स्वरूप नहीं बदल सकतीं ?' अब भी उसका सन्देह दूर नहीं हुआ था।

'मैं कोई सिद्ध हूँ क्या ?' युवतीने अप्रसन्नताकी आकृति बनायी। 'यहाँसे बहुत समीप मेरे पिताका खर्वट (छोटा ग्राम) है। तुम वहाँ चलो तो मेरे पिता तुम्हारा आतिथ्य करके प्रसन्न होंगे !'

'तुम्हारे पिता—नाग ····!' उसके स्वरमें भय एवं अविश्वास था। उसे लग रहा था कि यह युवती उसे कहीं धोखा तो नहीं दे रही है।

'मेरे पिता तो मानव नाग हैं, पर यदि तुम यहाँ पड़े रहे तो कोई-न-कोई मुम्बा, कोबरा या अजगर अवश्य तुम्हें काट लेगा। इस वनमें इन क्रूर सरीसृपोंका अभाव नहीं—बहुलता है।' युवतीने कुछ उपेक्षाका ढंग बनाया। 'तुम्हारी इच्छा हो तो आओ ! मैं बाध्य नहीं करती। यहीं रहना हो तो बाघ, भालू, अरना और बड़े उग्र एवं मांसभक्षी महानादी कपियों (गुरिल्लों) से सावधान रहना !'

'मैं तुमपर विश्वास करूँगा !' वह चलनेके लिए विवश हुआ। इनमें-से अधिकांश हिंसकोंके उसने नाम सुने थे। महाव्याल मुम्बा और उग्र कपियोंसे बचा नहीं जा सकता, यह भी उसे मालूम था।

'मैं भगवान् आदित्यका आराधक हूँ !' उसने ऊपर मुख उठाकर सूर्यकी ओर देखा। जैसे चेतावनी दे रहा हो युवतीको कि उसके साथ विश्वासघात हुआ तो उसके आराध्य क्षमा न करेंगे।

'हम सब भगवान् शेषको आराध्य मानते हैं !' युवतीने सरलतासे कहा।

'भगवान् शेष—वे तारकश्वेत महानाग और उनकी भोगशय्यापर आसीन वे परम प्रकाश नारायण, साक्षात् भगवान् आदित्य !' चलते-चलते उसे स्मरण आया। यह भी स्मरण आया कि यह युवती उन शेषकी उपासिका है और वह स्वयं भगवान् भास्करका। तब क्या महाराज पृषध्रकी वंशपरम्परा नष्ट न होगी ? आशा, उमंग, उल्लाससे उसने उस कमलासनासीन स्रष्टाकी स्तुति दुहरायी—'मैं उस आदिपुरुषकी शरण हूँ, जिससे पुरातन सृष्टि प्रवृत्त होती है।' उसका वह देश, उसका वह समाज, वह संसार क्या पुनः प्रकट हो सकेगा ? एक आशा हृदयमें व्यक्त हुई।

× × ×

कहानी तो समाप्त हो गयी। दक्षिण ध्रुव महादेश (अण्टारक्टिक्) के एकमात्र पृषध्रवंशीय सूर्योपासक उब्बट और भू-पाताल (अमेरिका) के महानाग (शेष) के आराधक गोन्थुम नागकी कन्या मन्थुलीका परिचय बदला और दोनों पति-पत्नी हो गये। उनकी सन्तति अब भी अमेरिकाकी आदिवासी जाति (रेड इंडियन) के रूपमें विद्यमान है।

अमेरिकामें नाग-पूजा और सूर्य-उपासना तो तभीसे चली आती है। वहाँके मूलनिवासी यदि अबतक भगवान्

इन्द्र एवं गणपतिकी उपासना भी साथ-साथ करते हैं तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है। आर्यसन्तति सदासे देवराजको अपना श्रद्धोपहार निवेदित करती आयी है तथा श्रीगणनायक तो प्रथम पूज्य हैं ही।

रेड इंडियनोंका ‘रामसीतव’ महोत्सव—अवश्य ही यह त्रेताके अन्त या द्वापरमें वहाँ कभी पहुँचा, जब राजसूय या अश्वमेधके लिए भारतीय सेना वहाँ पधारी। सूर्यवंशकी सन्ततिने अपने कुलभूषणका स्मरण-महोत्सव सहज ही अपना लिया होगा। यह अनुमान अनुचित तो नहीं ही है।

अमूढ़

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।५।।

'आपके अभावमें पार्टीको पर्याप्त क्षति होगी ।' आपका यह पार्टियोंका देश है । यहाँका शासन दलोंपर निर्भर करता है और ये दल उन विशेष व्यक्तियोंपर निर्भर होते हैं, जो अपनी वक्तृत्वशक्तिसे जनताको प्रभावित करनेमें समर्थ होते हैं । जो अपनी योग्यतासे चुनावमें विजय प्राप्त कर सकें, दल ऐसे ही पुरुषोंको अपना प्रमुख बनाता है । उस दिन उस प्रख्यात दलके मुख्य नेताओंकी अन्तरङ्ग बैठक थी । उनके प्रधानने सहसा सूचना दे दी थी कि वे भारत जायँगे और कदाचित् पुनः न लौटें । चुनाव समीप है । प्रचार-कार्य प्रारम्भ हो गया है । आशा की जा रही है कि इस बार दलका चुनावमें बहुमत हो जायगा और मन्त्रिमण्डल बनानेका अवसर मिलेगा । जिसपर यह सब निर्भर है—जो प्रधान मन्त्रित्व प्राप्त करेगा, वही पृथक् हो रहा है। बड़ी खलबली और आकुलता है नेताओंमें । 'आप चुनावके पश्चात् यदि भारत पधारें तो वहाँ अधिक सम्मान और सुविधा प्राप्त होगी ।'

'मैं जानता हूँ—किसी देशका प्रधानमन्त्री दूसरे देशमें पूर्णतः सम्मानित होता है और विश्वमें हमारा देश

प्रथमकोटिका राष्ट्र है। भारतसे हमारे सम्बन्ध अत्यन्त मित्रतापूर्ण हैं। साथ ही चुनावमें अपने दलकी विजयमें मुझे कोई सन्देह नहीं।' प्रमुखका स्वर गम्भीर बना रहा। बीचके टेबलपर रक्खे अपने ही मुट्ठी बँधे हाथपर उनकी दृष्टि स्थिर रही। 'लेकिन मेरा कार्य अभी ही पर्याप्त कठिन हो गया है। मैं भारतसे सम्मान पानेको नहीं, वहाँके किसी महापुरुषके चरणोंमें बैठकर शान्ति पाने जाना चाहता हूँ।'

'आपको अशान्ति या क्लेश क्या? चुनावके दौरे आप चाहें तो स्थगित कर सकते हैं। आपके रेडियो-भाषण ही पर्याप्त हैं।' नेताओंको अपने भविष्यकी चिन्ता अधिक है। यदि प्रमुख रुक जाय तो शेष दौड़-धूप वे कर लेंगे। इधर पिछले वर्षसे प्रमुखकी रुचि दार्शनिक ग्रन्थोंकी ओर बढ़ती जा रही थी। वे भारतके प्रशंसक हो गये थे और बहुधा उनकी यह प्रशंसा उनके सहकर्मियोंको अरुचिकर हो उठती थी। इतनेपर भी उनकी योग्यता, मृदुता, उदारता, सहिष्णुतासे सब आकृष्ट थे। वे सहयोगियोंपर रुष्ट होना जानते ही नहीं; परन्तु क्रमशः एकान्त-प्रियता बढ़ती गयी और यदि चुनाव समीप न होता तो दलने अवश्य किसी दूसरेको प्रमुखता देनेका प्रयास कर लिया होता। अब इतना समय नहीं।

'मेरी अशान्ति ऐसी नहीं, जैसी आप सब समझते हैं।' उन्होंने मस्तक उठाया। 'यह सभाएँ, यह भीड़, यह प्रशंसा और यह सम्मान ही मुझे अशान्ति देता है। मैं चाहता हूँ ऐसे स्थानमें रहना, जहाँ मुझे कोई न जाने। मुझे आन्तरिक शान्ति मिले।'

'आप कुछ सप्ताह कहीं एकान्तवास करें।' एकने प्रस्ताव किया। 'मेरा ग्राम-निवास इसके लिए उपयुक्त रहेगा।'

'लेकिन मैं एकान्तसे फिर इस कोलाहलमें आना जो नहीं चाहता।' किसीको सम्पत्ति एवं सम्मानका अजीर्ण भी हो सकता है, यह बात साधारण मस्तिष्कमें तो आनेसे रही। 'केवल भीड़से एकान्त ही नहीं—मुझे इस अपने शरीरसे भी एकान्त चाहिये। मुझे पूर्ण शान्ति पुकार रही है और भारतके अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान मैं नहीं देखता, जहाँ उसके द्वारतक पहुँचानेवाला मार्गदर्शक प्राप्त हो सके!'

'भारतमें एक सामान्य यूरोपियनका अब वह सम्मान नहीं, जैसा पहले था।' वक्ताका संकेत पराधीन भारतकी स्थितिकी ओर था। 'वहाँके साधु आपको कदाचित् छूना भी पसंद न करेंगे और परिवारके साथ तो उनके आश्रममें आप नहीं ही रह सकते!' वक्ताने अपने दूसरे साथियोंकी ओर एक कटाक्षपूर्ण दृष्टि डाली।

'मैंने भारतके सम्बन्धमें पर्याप्त पढ़नेका प्रबन्ध किया है और भारतीय दूतावासके सदस्योंसे बहुत कुछ जानकारी मिली है।' जो विदेश जानेको तत्पर हो, वह उस देशके सम्बन्धमें कुछ न जानता हो—यह कैसे सम्भव है। 'मैं एकाकी जा रहा हूँ। एक भारतीय जलपोतमें मेरे लिए स्थान मिल गया है। इस प्रकार मार्गमें भी बहुत कुछ सीख सकूँगा।'

'अकेले?' जो सदाके लिए भारत जा रहा हो, वह यहाँ स्त्री-बच्चोंको किसके ऊपर छोड़ रहा है?

'तुम भूल गये हो कि प्रभु ईसाने बताया है कि परमात्माके निवासका द्वार इतना बड़ा नहीं कि वहाँ भीड़के साथ प्रवेश किया जा सके।' प्रमुखकी वाणी भावपूर्ण हो गयी। 'एलिस (उनकी स्त्री) के लिए बैंकमें पर्याप्त सम्पत्ति है। मैंने कल सब उसके नाम कर दी है। बच्चोंको वह प्यार करती है और उनकी शिक्षाका उसे मुझसे अधिक ध्यान है।'

'तो आपने अपने पौंड भारतीय सिक्कोंमें वहाँ पानेकी व्यवस्था नहीं की?' कैसा है यह विचित्र पुरुष जो सम्पत्ति इस प्रकार स्त्रीको दे डाले।

'मैं थोड़े-से सिक्के वहाँ पा सकूँगा।' अध्यक्ष हँस रहे थे। 'जहाँ रहना हो, उस देशके अनुकूल जीवन बनाये बिना वहाँका नैतिक लाभ नहीं पाया जा सकता।' जिसे स्त्री-बच्चे तथा अपना ही ध्यान न हो, उससे दूसरोंको—संस्थाको क्या आशा!

(२)

'मैं विवाद नहीं करूँगा। सम्भव है मैं भूल करता होऊँ; किंतु अपने निश्चयको केवल तर्कसे समर्थित न होनेके कारण त्याग नहीं सकता।' जलपोतमें अधिकांश यात्री भारतीय थे—कुछ बंगाली, कुछ मद्रासी तथा कुछ दूसरे प्रान्तोंके। यद्यपि उनमें थोड़े लोगोंने भारतीय वेश-भूषा धारण की थी, अधिकांश तो यूरोपीय वेशमें ही

थे। उन्हें यह अंग्रेज बड़ा अद्भुत लगा, जो धोती-कुर्ता पहने, नंगे सिर भारत आ रहा था। स्वभावतः उसके आसपास दूसरे यात्रियोंकी भीड़ लगने लगी। वह हिंदी प्रायः शुद्ध बोल लेता था और टूटी-फूटी संस्कृत भी। आज जब विश्व 'प्रगति' के नवीन प्रकाशमें चल रहा है, यह वही धर्म एवं ब्रह्मका पुराना पागल है कोई। उसके पास प्रत्येकके तर्कोंका एक ही उत्तर है—मौन। वह बहसमें उतरता ही नहीं।

उसका घुटा सिर और उसपर बड़ी-सी चुटिया न होती तो उसे अवश्य लोग पहचान लेते। इतने प्रसिद्ध व्यक्तिको अपने मध्यमें देखकर सबको आश्चर्य होता; किंतु पूछनेपर भी वह अपना परिचय कहाँ देता है। 'सत्यशरण' उसने एक भारतीय नाम रख लिया है अपना और जहाजके कप्तान भी उसका परिचय किसीको देते नहीं। उसने अपना पासपोर्ट भी इसी नामसे बनवा लिया है।

'आपको भारतके किसी आश्रममें इतनी बहुलतासे शुद्ध मक्खन और पर्याप्त फल सदा मिलें, यह कठिन ही होगा।' जब वह स्वीकार करता है कि उसने पिछले वर्षतक अपनेको यहाँ सहज भोजनपर रक्खा है तो अब यह फल एवं मक्खनपर रहनेका आडम्बर क्यों? कुछ लोगोंको दूसरोंके संयममें सदा दम्भ ही दीखता है। संयमका उपहास आज गौरवकी वस्तु हो गयी है। उस यूरोपियनको चिढ़ानेमें, उसपर आक्षेप करनेमें लोग एक प्रकारका विनोद कर लेते हैं।

'वहाँ तो रोटी, चावल, शाक और दूध—मेरे लिए इन आहारोंकी पर्याप्त सुविधा रहेगी!' वह जैसे क्षुब्ध होना जानता ही नहीं। 'यहाँ तो डिब्बेका जमा हुआ दूध विवशत: लेना पड़ता है।' जैसे भारतीय आहार ही वह सदासे करता आया हो तथा उसके स्मरणसे सुविधाका ध्यान कर रहा हो।

'आप अपनी इस छोटी कोठरीमें ऊबते नहीं!' उसे तो अपने कमरेसे निकलनेकी बहुत कम इच्छा होती है; परन्तु दूसरोंसे उसके यहाँ आये बिना जो नहीं रहा जाता। 'आजके नृत्यमें आपको मेरा साथ देना है।' एक युवतीने आमन्त्रित किया। यूरोपसे लौटनेपर वहाँका स्त्री-पुरुषोंका सम्मिलित नृत्य वहाँके आचारके साथ ही इन भारतीय तरुणोंने अपनाया है।

'मुझे खेद है कि आपका साथ नहीं दे सकूँगा!' नम्रतापूर्वक उसने प्रस्ताव अस्वीकृत किया। 'मेरे पास पढ़ने एवं सोचनेका इतना अधिक काम है कि मुझे अवकाश नहीं मिलता। भारत पहुँचनेसे पूर्व इन ग्रन्थोंको समाप्त कर लेना है।'

'ये पुस्तकें!' भारतीय दर्शनों तथा योग-ग्रन्थोंके ये अनुवाद हैं, यह तो प्राय: सबको ज्ञात हो चुका है। 'आप इस शताब्दियों पुराने विचारोंके पीछे क्यों पड़े हैं?' युवतीने कटाक्ष किया।

'इसलिए कि मैं स्वयं वृद्ध हो चला हूँ और पुरातन सत्य ही मेरे लिए खोजकी वस्तु है।' बिना अप्रतिभ हुए उसने उत्तर दिया।

'आज हम इन भावुकताओंसे मुक्त हो चुके हैं।' युवतीका संकेत आधुनिक भारतीय प्रवृत्तिकी ओर था।

'विश्वका—मानवका दुर्भाग्य!' उस यूरोपियनने एक दीर्घ निःश्वास लिया और मस्तक झुका लिया। जहाँसे प्रकाश पानेकी आशा है, वहीं अन्धकारका अनुगमन होने लगा है!' बहुत धीरे-धीरे फुसफुसाया वह। अवश्य ही युवतीने इन शब्दोंको सुन लिया। अन्यथा अपमानितकी भाँति रोषपूर्वक वह उठकर चल न देती। अपने साथीके रोकनेपर तो रुक ही जाना चाहिये था उसे।

'पागल है यह!' साथके तरुणने कमरेसे बाहर आकर युवतीको समझाया।

'पूरा पत्थर है!' युवती झल्लायी हुई थी। 'पत्थरकी भाँति ही उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हम सबके बीचमें रहकर भी जैसे वह जंगलमें है। ऐसे हूशको कोई पशु होना चाहिये था।

'पत्थरसे भी गया बीता!' तरुणको चाटुकारी करनी थी। 'पत्थरको तो काट-पीटकर कोई रूप भी दिया जा सकता है, पर वह है जो अपने पागलपनमें पुस्तकोंमें सिर झुकाये लगा ही रहता है, किसी कीड़ेकी भाँति।' तरुणने घृणा व्यक्तकी।

'राम! राम! राम!' बंद कमरेसे दीर्घ-मन्दस्वर आ रहा था।

'वह क्या कह रहा है?' युवतीने पूछा कुछ रोषपूर्वक।

'कदाचित् वह घुरघुरा रहा है।' तरुणने मुख

बनाया।' बराबर वह यही बोलता रहता है, फिर चाहे अपनी उन सड़ी पुस्तकोंमें उलझा हो या सिर झुकाकर कोई 'खयाली पुलाव' पका रहा हो। तुमने उसे बराबर ओठ हिलाते देखा था न। वह तब भी फुसफुसा रहा था।' बात ठीक है। आजकल वह निरन्तर 'राम' नामके जप और उसके अर्थ-चिन्तनमें लगा है। उसके अध्ययनका विषय भी यही है।

(३)

'मैं न योगी हूँ और न सिद्ध !' श्रीसरयूजीके किनारे ज्येष्ठकी चिलकती दोपहरीमें, जब कि तप्तवायु लोगोंको घरोंसे निकलने नहीं देती, एक बबूलकी साधारण छायामें कौपीन लगाये पड़े रहना किसी तपस्वीके लिये ही सहज हो सकता है। होठ धीरे-धीरे हिल रहे थे। केवल कौपीन लगाये वे बैठे थे। पासके तूंबेका जल आधा हो गया था और वायुने उसमें अवधकी पावन रेणुका मिला दी थी। इस एकान्तमें, इस मार्तण्डकी अग्निवृष्टिके मध्य जो उनके समीप बस्तीमें नंगे पैरों चलकर आया है, उसकी श्रद्धामें कैसे सन्देह किया जा सकता है। 'ये यूरोपियन बड़े कष्टसहिष्णु और धुनके पक्के होते हैं।' बाबाजीने प्रातः आये संतोंसे इस यूरोपियनकी चर्चा सुनी है। उन्होंने पहले भी सुना है कि यूरोपके लोग योग एवं चमत्कारके प्रति बहुत उत्सुक होते हैं।

'मुझे शान्ति चाहिये।' आगन्तुकने महात्माके चरणोंके समीप भूमिमें मस्तक रक्खा। वह भारत आकर इतना समझ गया है कि उसे स्पृश्यास्पृश्य भाव का आदर करना चाहिये। उसका श्वेत वर्ण कड़ी गरमीसे लाल हो गया है और पसीनेसे प्रायः भीग गये हैं उसके सब वस्त्र। 'मैं आपके चरणोंमें कृपाकी याचना करने आया हूँ।' शब्दोंकी अपेक्षा नेत्रोंने हृदयको अधिक स्पष्ट किया।

'तुम्हारी चमड़ी सफेद है। लोगोंका तुम्हारे प्रति इसीसे आकर्षण है।' साधु किसीका संकोच क्यों करने लगे। 'तुम किसी आश्रममें जाओ, वहाँ तुम्हें सब सुविधा मिलेगी।'

'मेरा रंग ही मेरा पाप है।' वह बच्चोंकी भाँति सिसक उठा। यात्रामें अदन पहुँचते ही जहाजके यात्रियोंमें धूम मच गयी थी। उसका परिचय समाचार-पत्रोंने प्रकट कर दिया था। बम्बईकी भूमिपर पैर रखनेसे पूर्व ही भारतीय अधिकारियोंने उसका स्वागत किया। उसके बहुमूल्य समयमें कई महीने स्वागत-सत्कार और शिष्टाचारमें नष्ट हो गये। राजनीतिने उसे अपना यन्त्र बनाना चाहा। कितनी कठिनाईसे वह अपनेको तब एक साधारण नागरिककी स्थितिमें लानेमें समर्थ हुआ, जब प्रायः सभी सम्पर्कमें आनेवालोंने उसे निकम्मा तथा अर्ध-विक्षिप्त समझ लिया। उसे राजनीतिने छुट्टी दी तो आश्रमोंने उलझाना चाहा। विद्वत्ता, चमत्कार तथा दूसरे प्रलोभन उसे दिये गये। उसे अपनी महत्ताका श्रेष्ठ विज्ञापन माना गया। दूसरी ओर जो समर्थ हैं, सचमुच साधु हैं, वे उसे—उसके रंगको अपने लिये बाधक मानते हैं। उसे

बहानेसे हटा देना चाहते हैं। साधुके शब्दोंने मार्मिक व्यथा दी।

'तुम्हें व्यथित करना मुझे इष्ट नहीं।' साधु द्रवित हुए; 'किंतु आराधनाका मार्ग केवल त्याग, विश्वास और प्रेमका मार्ग है। इसमें देना है, पाना नहीं! तुम किसी योगीके समीप जाते तो वह तुम्हें दिव्य सिद्धियोंके मार्गमें लगा सकता। मेरे पास तो श्रीअवधकिशोरका सीधा-सा नाम है।' कोई विदेशी केवल नामजपमें आस्था कर लेगा, बिना कुछ चमत्कार पाये यह कैसे सहसा मान लिया जाय।

'मैंने परलोक एवं उसकी सिद्धियोंकी बातें सुनी हैं।' सच्चे साधक सभी देश और जातियोंमें हो सकते हैं। उन्हें तुच्छ प्रलोभन आकर्षित करनेमें असमर्थ ही रहे हैं। 'मुझे तो वह मार्ग दीजिये, जो हृदयके द्वारको खोल दे। मैं भीतर देख सकूँ।'

'तब तुम भगवान् श्रीरामका परमपावन नाम लो!' आप इसे चाहें तो दीक्षा कह सकते हैं। महापुरुषोंकी साधना उनकी वाणीमें जो शक्ति निहित कर देती है, वह साधकके लिए प्रेरणा होती है।

'मैं कृतार्थ हुआ।' उसने भालको वहाँकी रजसे भूषित कर लिया पृथ्वीपर मस्तक रखकर।

'उत्तराखण्ड ही तुम्हारे लिए उपयुक्त है।' साधुने आदेश दिया। 'सरयूजीके उद्गमके नीचे, उनके तटपर जहाँ एकान्त और सुविधा हो; किंतु जनपथसे दूर।

तुम्हारा वर्ण लोगोंको फिर भी आकर्षित करेगा। सावधान रहना होगा तुम्हें !' महात्माने अपने हाथकी सुमिरनी दे दी प्रसादस्वरूप।

वह उठा, परिक्रमा की, प्रणाम किया और उसी दुपहरीकी लपलपाती लू में निःशब्द लौट पड़ा। एक शब्द कृतज्ञता अथवा स्तुतिके नहीं निकले उसके मुखसे। कण्ठ भरा हुआ था और वायु नेत्रोंके जलको सुखा नहीं पा रहा था।

(४)

'इधर कोई महात्मा रहते हैं ?' वैद्य औषधियाँ ढूँढ़ते हैं, भौगोलिक पाषाण एवं जलकी परख करते हैं, ऐतिहासिक फोटो लेते हैं, कवि गुनगुनाते हैं और चित्रकार इधर-उधर दृश्योंपर लुब्ध होते हैं, ये साधु यात्री साधुओंकी खोजमें हैं। पर्वतराजका यह विपुल विस्तार जो जिस रुचिका है, उसी रुचिका आकर बन जाता है।

'साधु तो उत्तरकाशीमें रहते हैं ! ऊपर गङ्गोत्रीमें मिलेंगे और आप सब जायँ तो यमुनोत्रीमें भी।' पर्वतीय कुलीने जो वह जानता है, वही बताया। 'यहाँ रास्तेमें कोई साधु नहीं रहते।'

'यहाँसे सरयूजीकी धारा कितनी दूर है !' उत्तरकाशीसे गङ्गाजीका मार्ग छोड़कर इस पर्वतीय

ग्रामोंके मार्गसे ये बाबाजी क्यों चल रहे हैं, यह कुली समझ नहीं सका था।

'दो दिन लगेगा, दो दिन!' उसने अँगुलियाँ दिखाकर बताया। उसे आशा थी कि इतनी दूर आनेपर भी दो दिनका और मार्ग सुनकर ये लोग लौट चलेंगे। उसे यह मार्ग पसंद न था। पगदण्डीका पथ—कहीं मार्गमें चट्टी (पड़ाव) नहीं। ग्रामवालोंकी दयापर ही निर्भर रहना पड़ता है। कहाँ वह इन लोगोंके साथ आ गया। जानता कि ऐसी यात्रा होगी तो वह दैनिक मजदूरीके लोभमें कभी न आया होता।

'श्रीसरयूजीके किनारे ऊपर एक महात्मा रहते हैं न?' उत्तरकाशीमें किसीने उनके दर्शन नहीं किये, पर लोगोंने उनकी चर्चा सुनी है।

'महात्मा? नहीं तो।' कुलीने कुछ सोचा। 'हाँ, एक देवता वहाँ कभी-कभी किसीको दिखायी पड़ते हैं। वह क्या सबको दीखते हैं? जिसे उनके दर्शन होते हैं, निहाल हो जाता है। मेरे एक साथीने उन्हें देखा था, उसे पिछली गर्मीमें छः सौ रुपये मिले।......, पता नहीं क्या-क्या बतलाता वह। ये लोग देवताके दर्शन करने जा रहे हैं। यदि भाग्यसे उसे भी दर्शन हो जायँ—उसे भैंस लेना है, एक घर बनाना है, बेटीका इस वर्ष विवाह करना है। यात्राके लिए उत्साह आया उसमें।

'कैसे हैं वे देवता?' बीचमें ही एक साधुने पूछा।

'इस बरफ जैसे सफेद!' कुलीने मस्तक झुकाया। 'कभी-कभी वे बरफके बीचमें खड़े या बैठे दीख जाते हैं!'

पता नहीं क्या-क्या सुना है उसने। देवताके शरीरसे कितना प्रकाश निकलता है, कितना विशाल शरीर है उनका, कैसे वे आकार बदल लेते हैं, कैसे अदृश्य हो जाते हैं, किस प्राचीन राजाके ऊपर कृपा करके वे वहाँ प्रकट होने लगे हैं, इस प्रकार अनेकों सुनी-सुनायी और कल्पनासे बनी हुई बातें सुनायीं उसने।

'यह किसी मनुष्यके पदचिह्न हैं!' एक साधुने अन्ततः यात्राके उन कठिन दिनोंके व्यतीत होनेपर श्रीसरयूजीके तटसे थोड़ी दूर हिमपर एक चिह्न देखा।

'परसों रातमें वर्षा हुई थी, यह उसके बाद यहाँ आया होगा।' कुलीने सोचकर बताया।

'कहीं यह तुम्हारे देवताका ही चरणचिह्न न हो।' एकने हँसकर कहा।

'देवताके चरणचिह्न।' कुली रुका। उसने ध्यानसे देखा 'नहीं, है तो मनुष्यके पैरका ही; परंतु यहाँ यह क्यों आया?' ग्राम दो दिनसे कोई मिला नहीं। इस वृक्ष-तृणहीन भूमिमें क्या करने कोई आवेगा। कुलीने इधर-उधर देखा। कोई समाधान नहीं था उसके समीप।

'देवता ही होंगे!' कुलीने उस चिह्नपर मस्तक रक्खा। 'वे चले गये। हमलोगोंके भाग्य अच्छे नहीं।' उसकी निराशा दूसरे नहीं समझ सकेंगे।

'हमलोग इस चिह्नके पीछे चलें!' साधुने प्रस्ताव किया।

'देवताका क्या इस प्रकार पता लग सकता है !' आशा बड़ी बलवती होती है। कुली अपने तर्ककी चिन्ता न करके स्वयं उन चिह्नोंको देखता बढ़ता जा रहा था। एक छोटा-सा टीला था, जिसके पीछे तक वे चिह्न गये थे। 'प्रभो !' दूरसे ही कुछ देखकर वह भूमिपर साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगा।

बड़े-बड़े कुछ पाषाणखण्ड, उनके ऊपर भी पत्थर रख लिये गये थे। बैठने भरको स्थान बन गया था उसमें। द्वारके अतिरिक्त शेष सब भाग ऊपर एवं बगलोंका हिमपातमें आच्छादित हो गया था। उस छोटी कृत्रिम गुफामें कोई आसन लगाये बैठा था। उसके शरीरसे आभा छिटक रही थी। वह आभा गुफाको प्रकाशित किए थी।

'राम ! राम ! राम !' मुख बंद था, नेत्रोंकी पलकें ऊपर उठ गयी थीं। होंठ हिलते नहीं थे; परंतु स्पष्ट सबने सुना कि जप चल रहा है। ध्वनि कहाँसे आती है, कहना कठिन है।

'रामनामदास !' यात्रियोंमें-से वृद्ध साधु आगे बढ़ आये। धीरेसे जैसे अपने ही आप वे कुछ कह रहे हों। उनकी ध्वनि में भाव, स्नेह, श्रद्धा, पता नहीं क्या था।

'राम !' एक बार पलकें खुलीं, मस्तक झुका और फिर ज्योति, कान्ति तथा ध्वनि सब अदृश्य हो गयी।

'वह चला गया !' वृद्ध महात्मा धीरेसे पीछे मुड़े। 'सम्भवतः मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।'

'कहाँ चले गये ?' गुफा छोटी थी। वृद्ध द्वारपर थे। पीछेके लोगोंने कुछ देखा नहीं था। उन्होंने समझा, सचमुच देवता ही भीतर थे। उन्हींके अदृश्य होनेकी बात कही गयी।

'श्रीराघवेन्द्रके अविनाशी आनन्दमय साकेतमें।' वृद्धने थोड़े शब्दोमें समझा दिया।

वैष्णव साधुओंके करोंसे गुफाद्वार बंद हो गया उसी दिन। हिमकी अपार राशिमें उस महातापसका शरीर सुरक्षित है या नहीं, कौन कह सकता है।

प्रकाश-धाम

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

'मुझे प्रकाशमें जाना है—अन्धकारसे प्रकाशमें।' उसे अन्धकारसे घृणा हो गयी थी। भय लगता था। यहाँतक कि रात्रिमें वह उन्मत्त-सा हो जाता। निद्रा उसे लगती ही न थी। एक प्रकारका रोगी समझ लीजिये उसे, जो प्रत्येक प्रकारकी छायासे बेचैन हो उठता था।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय !' उसने सुना हो या न सुना हो; किंतु उसे धुन थी 'मुझे ऐसे प्रकाशमें पहुँचना है, जहाँ कभी अन्धकार प्रवेश न कर सके। भगा दो ! अन्धकारको मुझसे दूर भगा दो !' वह स्वयं भागता जाता था।

उसका उन्माद—उसकी स्थितिमें उन्मत्त हुए बिना कौन रह सकता है ! उसने क्या 'अहुरमज्द' (पारसीक परमात्मा) के लिए कम प्रार्थना की है ? कम आहुतियाँ दी हैं ? उसकी ज्वाला अन्ततः क्यों बुझ गयी ? किसके पापसे उसके देशको अग्निदेवने छोड़ दिया ? क्यों यह श्वेत हिम उसकी अग्निशालापर विजयी हुआ।

'पूर्वी हिंदू' (भारतीय आर्य-जातिका पारसीक नाम) कहते हैं कि 'ध्रुवदेश तमःप्रान्त है। वहाँ जानेवाला अन्धकारके अगम-सागरमें चला जाता है। अज्ञ हैं वे !' अपने पुरोहितके उपदेशपर वह स्वयं भी हँसता था। सचमुच पूर्वी हिंदू अज्ञ न होते तो क्या इतने मनोहर प्रदेशको वर्जित बतलाते। वर्षमें पूरे छः मास जहाँ भगवान्

भास्कर अखण्ड प्रकाशित होते हैं, जहाँ छः महीनेकी रात्रि ईश्वरीय प्रकाश (ध्रुवीय विद्युत्) आलोकसे जगमगाती है, जहाँ अग्निकुण्डोंमें अग्निदेव अखण्ड प्रकट रहते हैं; जहाँ उज्ज्वल हिम, हरित वल्लरियाँ, शस्यश्यामला भूमि, चिरस्थायी सुमन, मधुर फल-भारसे झुके हुए वृक्ष-समूह निरन्तर आनन्दका विस्तार करते हैं, वह सुन्दर देश क्या तमःप्रान्त है? उसे पूर्वी हिंदुओंके प्रति सदा उपहास एवं घृणाका भाव उकसाता रहा है।

'पश्चिमी हिंदू' (पारसीक) निश्चय महाज्ञानी हैं। उसके पूर्वज पारस्यदेशसे यहाँ आये थे—कितने बुद्धिमान् और शूर होंगे वे! भला, 'पूर्वी हिंदू', जो अपनी कायरतासे भारतको छोड़नेमें ही भीत होते हैं, क्या जानें कि विश्वमें ऐसे भी स्थल हैं।

'अपने पूर्वजोंके पापका दण्ड मिला है उसे, उसके पूरे देशको!' आज उसे उस वृद्ध पुरोहितकी बात स्मरण आती है, जो उसके यहाँ वर्षमें एक बार आता था। वह अपना भारी लबादा आते ही उतार देता! अपने अग्निकुण्डको अग्निशालामें रखकर सात बार अभिवादन करता और तब इस प्रकार आकर बैठ जाया करता था, जैसे यह घर उसीका हो। वह घरके प्रत्येक सदस्यका नाम लेकर उसका स्वास्थ्य पूछता। बच्चोंको गोदमें लेकर पुचकारता और देरतक अनेक प्रकारकी बातें करता। माता उसका बहुत आदर करती थीं। कुलपुरोहित भी उसका सम्मान करते थे।

'पूर्वी हिंदू ही वस्तुतः हमारे पूर्वज हैं! भारतमें हमारे पूर्वज वहाँके किन्हीं नियमोंका पालन न कर सके!

फलतः वहाँके लोगोंने उन्हें पृथक् कर दिया। अनेक बार इन दोनों वर्गोंमें युद्ध हुआ। अन्तमें हमारे पूर्वजोंको भारत छोड़ना पड़ा। वे पारस्य देशमें आकर पश्चिमी हिंदू हो गये!' जब वह वृद्ध पुरोहित अपनी लंबी श्वेत दाढ़ी हिलाते हुए यह बात कहता, माता उत्तेजित हो जातीं। ग्रामपुरोहित झगड़नेको तैयार हो जाते; किंतु वह बिना उत्तेजनाके कहता जाता 'पूर्वी हिंदू अनेक विषयोंमें इतने विद्वान् हैं कि हमलोग सोच भी नहीं सकते।' और तब ग्रामपुरोहित चिल्लाकर बोलने लगता। सभीको ये बातें पसंद न थीं। वृद्ध पुरोहित बहुत विद्वान् था; ऐसा न होता तो अवश्य लोग उसे रस्सीसे बाँधकर नगरके बीच किसी चौराहेके खंभेसे बाँध देते और पत्थरोंसे मारते-मारते मार डालते। लेकिन वह राजकुलसे एक बार सम्मान पा चुका है। जिसने राजाके हाथसे पुरस्कार पाया हो, उसे शरीरदण्ड कैसे दिया जा सकता है।

'पूर्वी हिंदू अनेक विषयोंमें इतने विद्वान् हैं कि हमलोग सोच भी नहीं सकते।' आज उसे बार-बार उस वृद्ध पुरोहितकी बात स्मरण आती है। अवश्य पूर्वी हिंदू कोई ऐसा स्थान जानते हैं, जहाँ कभी अन्धकारका नहीं होता। उन्होंने इस देशको ठीक ही अंधकारका अगम प्रदेश कहा है। पश्चिमी हिंदू उसके पूर्वजोंने उनकी बात मानी। आस पूरे देशको अपने पूर्वजोंके उसी अपराधका दण्ड मिला है।

पृथ्वीकी केन्द्रच्युतिके समय उत्तरी ध्रुवदेशमें हिमपात हुआ। वह रात्रिका समय था—ध्रुवीय छः महीनेकी रात्रिका। हिमने ध्रुवीय प्रकाशको लुप्त कर दिया।

अन्धकार—सूचीभेद्य अन्धकार और उसमें वह प्रलयङ्कर हिमपात। महीनों उस हिमपातके समय अन्धकारमें प्राण-रक्षाके लिए जो भागा हो, उसका क्लेश, उसका सङ्कट यदि उसे अन्धकारके भयका उन्मादी बना दे तो क्या आश्चर्य! वह वहाँसे बच निकला था, यही क्या कम था?

(२)

'ये बड़े-बड़े वृक्ष!' छायासे उसे घृणा थी। वह शीत प्रदेशका निवासी उष्णतासे व्याकुल हो गया था; किंतु छाया उसे धूपसे अधिक असह्य थी। घना जंगल, सघन छाया—जैसे ये साक्षात् यमदूत हों, जो उसे निगलने दौड़ आ रहे हों। बड़ा कष्ट हुआ उसे। कई मासमें वनभूमिसे उसका पीछा छूटा।

'बहुत थोड़ी देर रहते हैं इस देशमें सूर्य!' ध्रुवीय दिनोंकी अपेक्षा नीचेके बारह घण्टेके दिन उसे कितने तुच्छ जान पड़े, यह कल्पना ही की जा सकती है। 'रात्रि भी छोटी और उसमें वह शीतल चन्द्रमा—वह तो कभी निकलता है और कभी निकलता ही नहीं!' रात्रि इतनी शीघ्र आ जाय, यह उसे पसंद नहीं था।

'कहीं आगे और छोटे दिन तो न होंगे!' उसे भय लगा कि क्रमशः नीचे दिन घटते गये तो पल-पल-पर दिन-रातका क्रम बड़ा कष्टकर होगा; परंतु उपाय कुछ नहीं था। 'बुद्धिमान् पूर्वी हिंदू अवश्य किसी प्रकाशमय

देशको जानते होंगे।' उसे यह एक ही विश्वास बढ़ाये लिये जा रहा था।

'तुम कौन हो ?' महीनोंके पश्चात् उसे मनुष्यके दर्शन मिले थे। ठिगने, पीले मनुष्य। उनकी नासिका जैसे किसीने उत्पन्न होते ही जोरसे दबा दी हो। कई मनुष्योंने उसे घेर लिया था। वे जो भाषा बोलते थे, उसका एकाध शब्द वह कठिनता से समझ पाता था।

'पश्चिमी हिंदू—आस्थुस कन्थम।' उसने अपना नाम बतलाया। वे मनुष्य इस प्रकार उसका मुख देख रहे थे, जैसे उन्होंने कुछ समझा ही नहीं। मस्तकपर लंबी-लंबी तीन-तीन चोटियाँ, हाथोंमें चमकते भाले और शरीरपर चमड़े तथा चिड़ियोंके पंखोंसे बने विचित्र वस्त्र पहिने वे अद्भुत लगते थे। उन्होंने परस्पर कुछ कहा और फिर घेर लिया उसे। उसने समझ लिया कि वह बन्दी बनाया गया है। मनुष्योंको देखकर पहले वह प्रसन्न हुआ था। पता नहीं कितने दिनोंपर उसने मानवके दर्शन पाये थे। लेकिन इन मनुष्योंके व्यवहारने उसकी प्रसन्नताको भयमें परिवर्तित कर दिया। 'कौन हो तुम ?' राजा काँगका दरबार अद्भुत था। ऐसे विचित्र भवन, ऐसे पत्थर तथा लकड़ीके काम उसने नगरमें देखे थे कि मार्गमें ही चकित हो गया था। राजाका स्वर्णसिंहासन, रत्नमुकुट, चीनांशुक, दरबारकी वह शोभा, सत्ता, अनुशासन--- उसे लगा कि वह फरिश्तोंके देशमें आ गया है। राजाके प्रश्नके उत्तरमें उसके मुखसे एक शब्द न निकला।

'अतिथि, डरो मत ! हम तुम्हारा परिचय जानना चाहते हैं।' पता नहीं क्या हुआ। राजाने उसे ले

आनेवालोंसे कुछ पूछा, फिर समीप बैठे दूसरे व्यक्तिसे कुछ बातें कीं। थोड़ी देर सब शान्त रहे। एक वृद्ध पुरुष आया कुछ देरमें! उसे राजाने भी उठकर सम्मानित किया। वृद्धको राजाके समीप ही बैठाया गया। उसे आश्चर्य हुआ और आनन्द भी, जब उसने वृद्धको अपनी भाषामें बोलते सुना।

'मैं पूर्वी हिंदुओंके देशमें पहुँचना चाहता हूँ।' बहुत संक्षिप्त शब्दोंमें अपना परिचय और उद्देश्य बताया उसने। उसे लानेवालोंने एक वस्त्र दिया था, जिसे उसने कमरके चारों ओर लपेट लिया था। उसके वस्त्र तो कबके जंगलोंमें चिथड़े बनकर उलझ चुके थे। बड़े-बड़े बाल, रूखा शरीर, कष्ट, यात्रा और अनाहारसे स्नायु उभड़ आये थे। शरीर कंकाल हो रहा था। लोग इतने लंबे श्वेत रंगके दुर्बल पुरुषको बड़े आश्चर्यसे देख रहे थे।

जैसे कोई जादू हो गया हो, वे वृद्ध पुरुष सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने कुछ कहा; पर क्या कहा—यह वह समझ नहीं सका। राजाने शीघ्रतासे मुकुट उतार दिया। सबके सब उठकर खड़े हो गये। सबने एक साथ कटितकका शरीर नीचे झुकाया। उनके मस्तकके साथ उनकी लंबी चोटियाँ भूमिका स्पर्श करने लगीं। एक, दो, तीन—वे लोग यह अद्‌भुत व्यायाम करते ही जा रहे थे। उसने बड़ी कठिनाईसे अपना हास्य रोका।

'आप लोग मुझे आज्ञा दें!' उसे राजाके सिंहासनके पास सम्मानपूर्वक बैठाया गया। राजाके सेवकोंने उसे वस्त्र, अलंकार, सुगन्धित तैलसे सजाना प्रारम्भ किया। उसे बड़ा भय लगा। बचपनमें उसने सुना है कि 'दक्षिणकी

कुछ पर्वतीय जातियाँ मनुष्यका पहले सत्कार करती हैं और फिर उसे किसी मूर्तिके सम्मुख मार डालती हैं। क्या उसे भी इसी प्रकार मारा जायगा !'

'आप हमारे लिए देवताओंके समान पूज्य हैं' उस वृद्धने बड़ी नम्रतासे कहा। 'आप उस देशके यात्री हैं, जहाँ मनुष्य देवताओंसे भी महान् हैं। उस देशके सम्राट्के चरणोंमें देवेन्द्र भी अपने उपहार निवेदित करके कृतार्थ होते हैं। पूज्य अतिथि ! हमारे महाराज तुम्हारे हाथ वहाँके मानववन्द्य सम्राट्के लिए अपना छोटा-सा उपहार भेजेंगे और मैं अपने गुरुदेवके श्रीचरणोंमें निवेदित करनेके लिए एक उत्तरीय दूँगा ! हमारे महाराज तुम्हारी यथाशक्ति सहायता करेंगे ! आशा है तुम हमपर कृपा करोगे। हमारे उपहार पहुँचा दोगे।'

'कैसा होगा वह देश ? कैसे होंगे वे सम्राट् और गुरु ?' वह चकित रह गया। यहाँ उसने जिस वैभवको देखा है, वही उसे स्वर्गीय लगता था। राजाकी इस राजसभामें इतने सिक्थ-प्रदीप (मोमबत्तियाँ) थीं कि वहाँ अन्धकारका प्रवेश शक्य नहीं था। इस प्रकाशने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया। जहाँ जानेका विचार उसे इन लोगोंमें इतना सम्मानित कर रहा है, कैसा होगा वह देश ?

(३)

'भारत—अजनाभवर्ष, यही क्या पूर्वी हिंदुओंका देश है ?' उसने जिन पूर्वी हिन्दुओंकी बातें सुनी हैं, उसके

हृदयमें जो तिरस्कारके बीज बचपनमें डाले जाते थे, कहीं तो नहीं है उसका आधार। सरिताओंके तीर भव्य मन्दिरोंसे अत्यधिक मनोहारी हो गये हैं। घर-घर व्यक्ति-व्यक्ति अपनी अग्नि रखता है। प्रत्येक ग्राममें उसका ऐसा सत्कार होता है, जैसे किसी देवताकी पूजा हो रही हो।

'यह भी क्या मनुष्य ही हैं!' भव्य पाटलकान्ति गोधूम वर्णके सम्मुख उसका श्वेतवर्ण फीका लगता है। उन्नत ललाट, अनुभावपूर्ण भंगिमा, विनयपूर्ण बर्ताव एवं विद्याका तो व्यक्ति-व्यक्तिमें समुद्र उमड़ रहा है! 'इतना वैभव, इतना ऐश्वर्य, इतनी शालीनता भी पृथ्वीपर ही है?' कोई उससे कुछ चाहता नहीं। सब सेवा करना चाहते हैं।

'इनकी सम्पत्ति कोई चोरी नहीं करता?' उसे वह देश अद्भुत लगा। लोग चाहे जहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ डाल देते थे। खेतोंमें पशुओं और उपवनोंमें पक्षियोंको कोई भगाता ही नहीं। 'आइये, कुछ तो स्वीकार कीजिये!' मनुष्य, पशु-पक्षी, सभी प्राणियोंके लिए इस प्रकार सभी पदार्थोंमें खुला निमन्त्रण देनेवाले ये कैसे मानव हैं।

'आप क्या इसे स्वीकार करनेकी कृपा करेंगे?' जहाँ किसी वस्तुके प्रति तनिक भी उत्सुकता दिखायी कि उस वस्तुका स्वामी वाणी एवं भावमें इतना आग्रह भर लेगा कि अस्वीकार करना शक्य नहीं रह जायगा। यात्रीको शीघ्र ही अनुभव हो गया कि इस देशके लोगोंनें सम्भवत: लेना सीखा ही नहीं है। एक स्थानका उपहार दूसरेको दे

दें , यह बहुत सरल बात नहीं । कोई वस्तु किसीको देनी हो तो यहाँके लोग वस्तुके उपयोग , गुण , प्रशंसा , आवश्यकताका बड़ा विस्तृत वर्णन करेंगे ; किंतु उन्हें कुछ देने लगिये तो वस्तुमें उन्हें दोष-ही-दोष दीखेंगे । उनके पास उसकी आवश्यकता ढूँढ़े न मिलेगी । कहाँतक यात्री उपहारोंको ढोये ।

'महाराज ?' उसने समझा था कि इस स्वर्गीय देशका महाराज सरलतासे प्राप्त न हो सकता होगा । सच तो यह है कि प्रारम्भमें उसे प्रत्येक गृह राजभवन लगा और प्रत्येक व्यक्ति महाराज जान पड़ा । 'यहाँ कोई राजा न होगा । ऐसे महान् लोगोंका कोई राजा हो कैसे सकता है । राजाकी यहाँ आवश्यकता भी क्या है ।' लेकिन उसने राजाकी जिज्ञासा की थी और वह बड़े सम्मानसे प्रतिष्ठानपुर पहुँचाया जा रहा था । राजधानीका नाम उसने स्मरण कर लिया , यद्यपि उसे उच्चारण करनेमें वह पूर्णतः सफल न हो सका ।

'सम्मान्य अतिथि ! अपने देशकी ओरसे मैं आपका स्वागत करता हूँ ।' वह जैसे स्वप्नमें सुन रहा हो । भवन-द्वारतक आकर जिस तेजोमय पुरुषने उसे पृथ्वीमें लेटकर प्रणाम किया था , वे ही महाराज हैं । मनुष्य इतना तेजस्वी होता है ? वह तो चौंक पड़ा था । उसे लगा , यह देवदूतोंका कोई महाधिपति है । अर्घ्यके पश्चात् पैर धोये महाराजने उसके । संकोच और अस्वीकार उन दिव्य-पुरुषने विनोद बना लिया । चन्दन , माल्य , पुष्पसे पूजा की गयी उसकी और वह भोजन—

कैसे भूल सकेगा वह भोजनको। 'आप आज्ञा करें। आपकी सेवासे हम पवित्र होंगे।' महाराजने भोजनोपरान्त उससे प्रार्थनाकी।

'चीनके राजाने यह उपहार भेजा है!' यात्रीने देखा, चीनका वह महामूल्यवान् माणिक्य यहाँ पादपीठमें लगे रत्नोंसे भी तुच्छ है। उसे जिस आसनपर बैठाया गया था, उसका प्रत्येक रत्न इस उपहारका परिहास करनेके लिए पर्याप्त था। 'महाराज हँसकर उसे एक ओर फेंक देंगे।' राजसभामें आनेसे पूर्व ही वह समझ चुका था। भारतीय गृहोंमें रत्नप्रदीपोंके अखण्ड आलोकको देशमें प्रविष्ट होते हीं उसने देखा और तभी उपहारकी तुच्छता उसे प्रतीत हो गयी। जो भी हो, उसे तो कर्तव्य पूरा करना था।

'चीना नृपतिका सौहार्द!' आदरसे महाराजने रत्नको उठाकर नेत्रोंसे स्पर्श कराया! 'वे प्रसन्न तो हैं?' इतना शील—यात्रीके नेत्र भर आये।

'आपकी मित्रता पाकर तो देवता भी कृतार्थ हो जायँगे।' यात्री जैसे अपने आपसे कह रहा हो।

'आपने जिस उद्देश्यसे इतनी दुर्गम यात्राकी, उसके श्रवणसे मैं कृतार्थ होना चाहता हूँ!' महाराजके प्रश्नमें ही उद्देश्य पूर्ण करनेका भाव था।

'मुझे प्रकाश चाहिये।' यात्रीने अपना परिचय दिया। यात्रा-विवरण वतलाया। 'यह सूर्य शीघ्र छिप जाता है। चन्द्रमाका तो कोई ठिकाना नही। मैंने देखा है कि अग्निदेवपर हिम किस प्रकार विजयी हो जाता है।

आपके ये रत्न कुछ ठीक हैं ; परंतु इनके समीप ही प्रकाश रहता है। दूर तो अन्धकार दिखलायी ही पड़ता है। आप देवताओंसे भी महान् हैं। आपकी शक्ति अपार है। आप मुझे ऐसा स्थान बतायें, जहाँ कभी अन्धकार प्रवेश न कर सके। मुझपर दया करें।' यात्रीने हाथ जोड़ लिये। उसके नेत्र याचना कर रहे थे। ये ऐश्वर्यरूप महाराज उसकी इच्छा पूर्ण कर देंगे—यह उसे विश्वास था।

'आज आप विश्राम करें।' दो क्षण मौन रहकर महाराजने कहा। 'कल गुरुदेवके आश्रममें आपके साथ चलूँगा। आपकी इच्छा वही पूर्ण कर सकते हैं।'

'मुझे उनके चरणोंमें उनके एक शिष्यका प्रणाम निवेदन करना है।' यात्रीने नाम पूछा और तब उसे चीनके उस वृद्धका स्मरण आया।

(४)

'महाराज ! वहाँ अन्धकार होगा।' किसी प्रकार वृक्षोंकी छायामें वह अपनेको सँभाल रहा था। उसकी इच्छा होती थी, भाग जाय दूर। भला वह उस फूसकी कुटियामें कैसे जाय। वहाँ तो किसी सिक्थ-दीप (मोमबत्ती) के भी लक्षण नहीं ! रत्नप्रदीप तो होगा ही क्या। अग्निशाला भी बाहर ही है।

'वहाँ प्रकाशके परम पुञ्ज हैं, आप डरें नहीं।' महाराजने उसे आश्वासन दिया। सचमुच पहली बार उसने ऐसा पुरुष देखा, जिसके सम्पूर्ण शरीरसे विचित्र

प्रकाश प्रकट हो रहा था। यद्यपि वहाँ पर्याप्त छाया थी, फिर भी उस पुरुषके पास अन्धकारका भय मनमें आया ही नहीं।

'अग्निको जल या हिम शीतल कर देता है!' उन जटाधारी तपस्वीने महाराजके प्रणामके पश्चात् स्वतः कहना प्रारम्भ किया—'इसीलिए कि अग्नि पृथ्वीपर स्थूल आधारसे व्यक्त होता है!'

'चन्द्रमा?' यात्रीने पूछा।

'चन्द्रमाके पास प्रकाश कहाँ? वह तो सूर्यसे प्रकाश लेता है।' यह बात तो यात्रीने भी सुनी है। 'सूर्यका प्रकाश भी एक सीमातक ही रहता है। इसीसे प्रलयकी वृष्टि उसे भी डुबा देगी।'

'तब क्या सदाके लिए अन्धकार हो जायगा?' यात्रीको भय लगा।

'तुम अपने नेत्र बंद करो!' उन्होंने आदेश दिया।

'केवल अन्धकार है।' झटसे यात्रीने दृष्टि खोल दी। 'मैं अभी सोना नहीं चाहता।'

'इसी प्रकार सृष्टिकर्ता जब दृष्टि बंद कर लेता है, सृष्टिमें अन्धकार हो जाता है?

'सृष्टिकर्ताके पास प्रकाश किसका है?' यात्रीने पूछा।

'परम-पुरुषका।' वे बतलाते गये। 'परम-पुरुष ही स्वतः प्रकाश हैं। उनका धाम नित्य प्रकाशस्वरूप है। जब भी हम नेत्र बंद कर लेते हैं, अन्धकार हो जाता है। उनकी ओरसे दृष्टि बंद करना ही अन्धकार है।

समष्टिकर्ताकी दृष्टि बंद होनेपर समष्टिमें और व्यक्तिकी दृष्टि बंद होनेपर व्यष्टिमें अन्धकार होता है।'

'मैं वहाँ जा सकूँगा ?' यात्रीने उत्कण्ठासे पूछा।

'निश्चय जा सकोगे।'

'कोई फिर निकाल तो नहीं देगा ?'

'वहाँ पहुँचनेपर फिर कोई निकाल नहीं सकता! कोई वहाँ जाकर फिर नहीं लौटता।' वाणी गम्भीर ही बनी रही।

'भला, प्रकाशधाममें जाकर कोई क्यों लौटेगा इस अँधेरेमें।' यात्रीने बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की—'आप मुझे वहाँ भेज दें। वहीं—जहाँ अग्नि, चन्द्र, सूर्यका प्रकाश नहीं। जहाँ इनके प्रकाशके लुप्त होनेका भय नहीं। मैं उत्तर ध्रुवदेशसे वहीं जानेके लिए चला हूँ।'

'**असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय! मृत्योर्मामृतं गमय!**'

दूर कोई ब्रह्मचारी श्रुतिका सस्वर पाठ कर रहा था। अतिथिके पधारनेका उसे पता होता तो श्रुतिका अनध्याय हो गया होता। यात्रीने सुना। वह महीनोंके श्रमसे संस्कृत बोलने लगा है। उसने सोचा 'वह ठीक स्थानपर आया है। अन्धकारसे प्रकाशमें ले जानेकी प्रार्थना जहाँ होती है, वहाँ उसका पथ होना ही चाहिये।'

'असत्से सत्में जाना ही अन्धकारसे प्रकाशमें जाना है। अन्धकार-अभाव-मृत्यु—ये एक दूसरेके बड़े पर्याय हैं। इनसे अमृतत्वमें जाना है। उस प्रकाशस्वरूप सत् में, जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता। जहाँ शाश्वत स्थिति—

अमरत्व है।' वे महात्मा कहते जा रहे थे। 'असत्, विनाशशील—यदि तुम नेत्र खोलकर न देखो तो इसकी सत्ता ही तुम्हारे लिए न हो। सत्ता तो कम-से-कम तुम्हारे लिए तुम्हारे भीतरसे इसमें आती है। उसी सत्तामें प्रवेश करो।'

'भीतर—सबके भीतर पृथक्-पृथक् सत्ता ?' यात्रीको भय हुआ कि ऐसी सत्ता क्या शरीरके साथ ही नष्ट न हो जायगी।

'शरीर भी तो मनसे देखनेपर ही है,' उन्होंने बतलाया। 'सत्ता तो व्यापक है। प्रकाशधाम तो सर्वत्र है। तुम उसकी ओर देखो ! बाहर देखना बन्द करो।'

'विन्दु, उज्ज्वल प्रकाशमय विन्दु जो बढ़ रहा है।' यात्रीने नेत्र बंद किये। महापुरुषने झुककर दाहिने हाथकी कनिष्ठिकासे उसके भ्रूमध्यका स्पर्श कर दिया। 'सूर्य है वह विन्दु, सूर्यके ऊपर चन्द्र और उसके ऊपर भी अग्निके मण्डल। अग्नि-मण्डलके मध्य उस प्रकाशसे परे प्रकाश—अनन्त अपार प्रकाश। सूर्य, चन्द्र, अग्नि सम्भवतः स्फुलिंगांश होंगे उस महाप्रकाशके।' यात्रीका शरीर निश्चल हो गया।

साइबेरियाकी एस्किमो जाति उस यात्रीके वंशज हैं या हिमपातसे बचे हुए मानवोंकी परम्परा, यह मुझे ज्ञात नहीं। प्रतिष्ठानपुरके महाराजको भी पता न लगा कि यात्री आश्रमसे कहाँ गया। उस समय भारतमें विदेशीजनोंके लिए इतना सशङ्क रहनेकी आवश्यकता नहीं थी।

परमात्माका अंश

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

'तुम लोग गा सकते हो! गाओ! सब मिलकर गाओ! मुझे एक मृदङ्ग दो!' वह अत्यधिक सुरापानसे अपने आपमें नहीं था। 'तुम्हारे ये लाल-लाल वस्त्र मुझे बहुत पसंद हैं। नाचो तुम सब! हा, हा, सब बुढ़ियाँ नाचेंगी। बड़ा आनन्द आयेगा!' अट्टहास किया उसने।

'आश्रममें ऐसे उन्मत्तको कैसे रक्खा जा सकता है।' आश्रमके वृद्ध अध्यक्षने रघुनाथदाससे अपना प्रतिवाद प्रकट किया। रघुनाथ श्रीसमर्थके अत्यन्त प्रियपात्र हैं। उनके आग्रहकी उपेक्षा किसी आश्रमपतिके लिए सहज नहीं; किंतु आज वे जिसे उठा लाये हैं, उसके वस्त्र, शरीर और मुखसे इतनी दुर्गन्ध आ रही है कि कोई साधु उसके समीप ठहर नहीं सकता। उसके अनर्गल प्रलापसे आश्रमकी शान्ति भंग हो गयी है। 'साधुओंका नीरव एकान्त तथा संयम भंग हो, ऐसा कोई अवसर क्या आश्रमको अपेक्षित हो सकता है।'

'तुम सब गाओ! गाओ नहीं तो मैं मारूँगा!' वह उठ खड़ा हुआ। पासमें पड़ा पत्थर उठाया उसने। यद्यपि यह निश्चित था कि दो डग बढ़नेसे पहले वह लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा; किंतु कौन कह सकता है कि आघात

पहुँचाना उसके लिए सम्भव नहीं । आश्रम क्या सुरापियोंका अखाड़ा बन सकता है ?

'तुम यहाँ ऊधम नहीं कर सकते !' उन्मत्तके हाथसे अध्यक्षने झटकेसे पत्थर छीन लिया । वह उस झटकेसे ही लड़खड़ाया । 'चलो, निकलो यहाँसे बाहर !' उन्होंने उसके गिरनेकी चिन्ता नहीं की ।

'आपको एक मनुष्यका यों अपमान नहीं करना चाहिये !' रघुनाथदासने बढ़कर गिरते हुएको सहारा दिया । उन्होंने अध्यक्षकी ओर ऐसी दृष्टिसे देखा, जैसे शिक्षक किसी विद्यार्थीको झिड़क रहा हो ! 'आओ, मैं तुम्हें गायन सुनाऊँगा !' उन्मत्तको बच्चोंकी भाँति बहलाया ही जा सकता है ।

'यह मुझे मारेगा ! मारेगा मुझे ! मैं इसके प्राण ले लूँगा इसके ....!' वह अध्यक्षकी ओर घूर रहा था । गालियाँ बक रहा था और अपने आपको रघुनाथके हाथोंसे छुड़ानेके लिए उछल-कूद कर रहा था ।

'यह मनुष्य है ?' अध्यक्षके स्वरमें रोष आया । 'ऐसे मनुष्य धर्मराजके नरकोंकी ही शोभा बढ़ा सकते हैं । आप कृपा करेंगे, यदि आश्रमको ऐसे मनुष्योंके दर्शन न कराया करें ।'

'आप इस समय मानसिक दृष्टिसे अस्वस्थ हैं । मैं कुछ समय पश्चात् आपके विचार सुन लूँगा । अभी तो आरतीका समय है ।' रघुनाथपर जैसे कोई प्रभाव नहीं पड़ा । उसने अध्यक्षको सायंकालीन नीराजनका ध्यान दिलाकर तटस्थ करना चाहा । 'साधुके आश्रममें यदि

उत्पीड़ितोंकी सेवा न हो तो साधुने आश्रम बनाया ही क्यों ?' श्रीसमर्थ रामदास स्वामीके प्रिय शिष्यसे प्रमाद होगा, ऐसा सोचना भी सह्य नहीं हो सकता।

'प्रभुका नीराजन तो हो रहा है।' अध्यक्षका दोष नहीं। सायंकालीन उपासनाके समय आश्रममें यह हुल्लड़, दुर्गन्धि और स्नानके अनन्तर आवेशमें आये इस शराबीको स्पर्श कर लिया उन्होंने। पुनः स्नानकी उतनी चिन्ता नहीं, किंतु उपासनाके समय तो शान्ति चाहिये। 'उत्पीड़ितोंकी सेवा तो आश्रममें समझी जा सकती है, पर उन्मत्तोंकी सेवाके लिए तो कोई 'उन्मत्त-सदन' ही उपयुक्त होता।'

'तुम बहुत थक गये हो, यहाँ भली प्रकार सो जाओ तो मैं भजन सुनाऊँ !' रघुनाथदास एक तख्तेपर अपना उत्तरीय एक हाथसे बिछाकर उस सुरापीको लिटा चुके थे। वे उसे संयत करनेके प्रयत्नमें थे। 'मानसिक असंयमके रोगी शारीरिक रोगियोंसे अधिक दयनीय होते हैं।' अध्यक्षकी ओर उन्होंने एक दृष्टिमात्र डाल ली। जैसे इस समय वे किसीकी कोई बात सुननेको प्रस्तुत नहीं।

'अः, अः, अः' वमन हुआ। रघुनाथदासकी ओर ही मुख था उसका। पूरा अधोवस्त्र और कटिसे नीचेका शरीर भीग गया। दुर्गन्धसे नासिका व्यथित होने लगी। अध्यक्षने घृणासे मुख फेर लिया। वे एक हाथसे नाक दबाकर शीघ्रतासे हट गये वहाँसे।

'तुम गाओ !' सुराकी मादकतामें वह अपनी ही धुनमें था। उसे जलकी आवश्यकता न थी।

जग दुर्बल जीव विचारो।
रघुनन्दन पतित उबारो॥

सचमुच रघुनाथ उसके समीप बैठकर गाने लगे। नीचे भूमि भींग गयी है, दुर्गन्धसे दिशाएँ भर गयी हैं, उनका अपना वस्त्र और शरीर वमन हुई सुरासे लथपथ है; जैसे उन्हें इस सबकी कोई चिन्ता नहीं। लघुशङ्का जाकर भी कटि-स्नान करनेवाला वह साधु अर्धसुरास्नात बना उस सुरापीके मस्तकपर हाथ फेरता गा रहा है।

आरतीके घड़ियाल बजे, शङ्खने दिशाओंको ध्वनित किया और आश्रमके साधुओंका सम्मिलित स्तुति-पाठ सुनायी पड़ा। वह मदिरापायी सोने लगा है। उसे ठीक निद्रा आ जाय, इसलिए रघुनाथदास गा रहे हैं—

'**करुणामय रूप तिहारो।**
अवधेश उबारो उबारो!'

मन्दिरके उस पावन भद्र पीठपर विराजमान धनुषधारी श्रीविग्रहने कदाचित् सम्मुखके साधुओंकी अपेक्षा सुरापीके समीपसे आती उस स्तुतिको अधिक एकाग्र होकर सुना। सुरापी गाढ़ निद्रामें चला गया और तब रघुनाथ वहाँकी स्वच्छताके लिए उठ सके।

(२)

'आज उसने फिर शराब पी है!' युवक साधु कुछ अधिक उत्तेजित था। 'मैंने उसके मुखसे दुर्गन्ध निकलते

अनुभव किया है । अब वह अपने आसनपर पड़ा हुआ है !'

गणपत आज सायंकालीन आरतीके समय उपस्थित नहीं हुआ था। आश्रमके अध्यक्षको उससे सदा शङ्का रहती है। वह सदा उसकी गतिविधिपर ध्यान रखते हैं। मनुष्य अपने पुराने अभ्यासपर सहसा विजय नहीं पा लेता। उसे प्रोत्साहन और संरक्षणकी आवश्यकता होती है। रघुनाथदासजीके आग्रहपर उन्होंने इसको आश्रममें रख लिया। ऐसा व्यक्ति सुधर भी सकता है, आरम्भसे ही उन्हें आशा नहीं। किया क्या जाय; श्रीसमर्थ रघुनाथदासपर अगाध स्नेह रखते हैं। उन्हींको आश्रमोंके संचालन, संगठनका सूत्र दे रक्खा है। अतः अपने संचालककी आज्ञाकी अवहेलना कैसे की जाय।

'मैं अत्यन्त पतित हूँ, घोर पापी हूँ।' जब पहली बार आश्रममें वह अपनी मादक निद्रासे सावधान हुआ, कैसा फूट-फूटकर रोया था। 'आप-जैसे महापुरुषोंका आश्रम मुझ-से नीचके द्वारा अपवित्र होता है। मुझे जाने दीजिये। नारकी कीट अपने स्थानपर ही सुखी होता है।' उसके पश्चात्तापमें कृत्रिमता नहीं थी। पूरी सावधानी न रक्खी गयी होती तो अवश्य वह भाग गया होता और भय था कि आत्महत्याका कर ले। अध्यक्षको उस पश्चात्तापने द्रवित कर दिया था।

'कबतक टिकेगा यह ज्वार!' पश्चात्तापका ऐसा आवेग उन्होंने तब पहली बार ही तो नहीं देखा था। धीरे-धीरे आवेश मन्द पड़ता है। संयम शिथिल होता है। अन्तमें पुराना स्वभाव जाग्रत होता है।

'कल जब वह जगेगा; फिर रोयेगा—कदाचित् भागनेका भी प्रयत्न करे।' वे इस सम्बन्धमें निश्चिन्त हैं। अपराध और पश्चात्तापका यह क्रम चलता है। श्रद्धा शिथिल होती जाती है! पश्चाताप घटता जाता है। अन्तमें संकोच विदा हो जाता है। अधम प्राणी फिर उसी दुर्गन्धमें चला जाता है, जहाँसे आया था। दूसरो बार उसे वहाँसे उठाना नितान्त अशक्य हो जाता है।

'म्लेच्छोंके चर चारों ओर सावधान हो गये हैं।' युवकने अध्यक्षकी चिन्तनपरम्परा भंग की। महाराज छत्रपति शिवाजीके दिल्लीसे निकलकर सकुशल महाराष्ट्र पहुँचनेमें श्रीसमर्थके इन शिष्यों और आश्रमोंकी कितनी सहायता थी, यह बात लोगोंपर प्रायः प्रकट हो चुकी थी। 'ऐसे असंयमी अपने लिए कभी भी आपत्ति उपस्थित कर सकते हैं।'

'श्री समर्थके सेवकोंका निश्चय भयसे प्रेरित हो, यह लज्जाकी बात है!' अध्यक्षकी दृष्टिमें तिरस्कार आया। उन्होंने गणपत रावको आश्रममें रखनेका विरोध किया था। अधिकारकी दृष्टिसे, साधकोंके साधनमें बाधा न पड़े, इस विचारसे। म्लेच्छवाहिनी, यवन-सम्राट्, त्रिभुवनसमर्थ श्रीराघवेन्द्रके उपासक क्या इन तुच्छ कीटोंकी चिन्ता करेंगे। 'हमें अपने कर्त्तव्यसे प्रयोजन है। उसमें भय, आशंकाको कहाँ स्थान। सर्वसमर्थ प्रभुका कार्य हमारे क्षुद्र प्रयत्नपर निर्भर नहीं, परंतु हम अपनी बालचेष्टासे उन्हें प्रसन्न करते हैं। महाकालमें भी साहस नहीं कि उनके सम्मुख हमारी ओर देखे।'

'आश्रमकी शान्ति..........!' युवक अपने अध्यक्षकी वाणीसे हतप्रभ हो गया था। वह अपनी लज्जा ही सम्हाल रहा था।

'मैं जानता हूँ कि गणपत उसमें व्याघात बन रहा है।' अध्यक्षने मस्तक झुकाया। 'हमने एक बार उसे स्वीकार किया है। श्रीसमर्थका जगत्-पावन सुयश, आश्रमपर फहराती वह गैरिक ध्वजा—इसकी छायामें पहुँचकर भी कोई उसी कीचड़में डूबने फेंक दिया जाय . ....!' उनके अन्तरकी चिन्ता वाक्यको पूरा नहीं करने दे रही थी। भावोंके समान वाणी उलझ गयी। यही चिन्ता तो उन्हें आरम्भसे व्यथित करती है। अपनाकर फिर गुण-दोषका विचार साधु-हृदय करता कहाँ है।

'कार्यमें लगनेपर कदाचित् कुछ बदल सके वह।' युवकको ही नहीं, सभी आश्रमके लोगोंको आश्चर्य है कि उस नवागतको कोई भी कार्य क्यों नहीं बताया जाता। इस प्रकार व्यर्थ रहकर तो वह प्रमादी ही बनता जाता है। 'कोई साधन भी तो नहीं करता।'

'जो स्वयं संयत नहीं है, वह लोक-मङ्गलके कार्योंमें लगकर उन्हें विकृत ही करेगा!' अध्यक्ष जैसे सूत्र समझा रहे हों। 'साधनका प्रारंभ रुचि एवं जिज्ञासाके जागरणसे पूर्व कराया ही नहीं जा सकता। बलात् श्रम कराया जा सकता है, साधन नहीं।'

'गणपत अपने आसनपर नहीं है। वह कहीं चला गया।' एक साधुने व्यग्रतापूर्वक सूचित किया। 'उसके वस्त्र और पात्र यहीं पड़े हैं। उसे वनको ओर भागते हुए देखा है एक बालकने।'

'तुम शीघ्रता करो!' अध्यक्षने तरुणको आदेश दिया। उनके नेत्र ध्वजकी ओर उठे। मुखपर चिन्ताके लक्षण स्पष्ट हो गये।

(३)

'मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आप मेरा मुख भी देखें!' तीन दिनके परिश्रमके पश्चात् अध्यक्षने एक गुफामें उसे ढूँढ़ लिया था। तीव्र ज्वरसे वह बेचैन था। कदाचित् धूप तथा दूषित जलने उसे रोगी बना दिया था। यदि वह समर्थ होता, अवश्य उठकर कहीं भाग जाता। 'मुझसे साधुओंको कष्ट हो, लोगोंको पीड़ा पहुँचे, इससे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। किसीका कोई कार्य मेरेद्वारा सुधरनेसे रहा। धराका एक भार घट जायगा।'

'मेरे बच्चे!' जैसे वह अध्यक्षका पुत्र हो। इतना स्नेह उसे जीवनमें कदाचित् ही कहीं मिला हो। 'भगवानने तुम्हें पृथ्वीपर भेजा। तुम स्वयं स्वीकार करते हो कि तुम पाँचवीं बार आत्महत्या करनेमें असफल हुए हो। इसका अर्थ है कि प्रभु तुमको यहाँ रखना चाहते हैं। तुमसे कोई सेवा लेनी है उन्हें!' अध्यक्ष यदि दो घड़ी देरसे पहुँचते तो वह उस खड्ढेमें लुढ़क चुका होता, जो गुफासे समीप ही है। ज्वरमें उठनेपर वह गिर पड़ा था और फिर सम्हलनेके पूर्व अध्यक्षने उसे उठाकर व्यवस्थित रूपसे लिटा दिया था।

'पिताका धन, माताका स्नेह, गुरुकी शिक्षा, सभी तो नष्ट कर दी मैंने !' उसे एक साथ स्मरण आया, कितनी बड़ी सम्पत्ति छोड़कर पिता स्वर्गवासी हुए थे। माताने उसे हृदयके रक्तसे सींचकर पाला। जब उस वृद्धाको सहायताकी आवश्यकता है, वह एकमात्र आशा लगाये द्वार देखती कलपती होगी, वर्षोंसे वह उस स्नेहमयीकी उपेक्षा करके सुरा-सुन्दरियोंमें उन्मत्त हो रहा है। उसे स्मरण आयी उस वृद्ध शिक्षककी सौम्यमूर्ति, जो बचपनसे उसे अपने पुत्रसे भी अधिक प्रेमसे पालते थे। जिन्होंने अपनी धमनियोंकी सम्पूर्ण शक्ति उसे सुयोग्य बनानेमें व्यय की। 'मेरा शिष्य सुयोग्य होगा' जिनकी एकमात्र लालसा थी। जिन्हें एक दिन—वैसे अनेक शिक्षा, संकोच, झिझक, झकझकके दिनोंके पश्चात् उस अन्तिम दिन वह तिरस्कृत कर आया था—'बुड्ढे खूसट ! मुझे तेरे उपदेशोंकी आवश्यकता नहीं !' जैसे किसीने कमर तोड़ दी हो। वे ऐसी निराशासे उसकी ओर देखते हुए गिर-से पड़े थे। 'ओह ! मैं कृतघ्न हूँ ! महापापी हूँ ! मुझसे किसीका कोई हित न होगा ! आप छोड़ दें मुझे।'

'सर्वेश्वर जानते हैं कि तुममें कितनी शक्ति, कितने सद्गुण, कितने विश्व-हित-साधनकी सामर्थ्य है।' अध्यक्ष धीरे-धीरे उसके मस्तकपर हाथ फेर रहे थे। उसे लगता था, जैसे तप्त भालपर कोमल हिमखण्ड घुमाया जा रहा है। 'तुम उस लोकनियन्ताके निर्णयपर अविश्वास नहीं कर सकते। उसके निर्णयमें दोष नहीं निकाल सकते।'

'वे दयामय ! उन्होंने मुझे उस दिन नालीमें-से उठाया था ! मैं उस वेश्याके यहाँसे धक्के देकर निकाला गया था, जिसे सहस्रों रुपये दिये थे मैंने !' वह अपने आवेशमें था। 'मेरी उद्दण्डता, मेरा वह कुत्सित रूप, जैसे माता बच्चेके मल-मूत्रको स्वच्छ करे, उन्होंने मेरा वमनतक सहा और मैंने उनके विश्वासको भङ्ग किया। मैं अपने उस अधम अभ्याससे विवश हुआ। कौन-सा मुख दिखाऊँगा उन्हें। वे करुणामय क्षमा कर देंगे—क्षमा कर ही देंगे ! क्या लाभ ? नारकीय कीड़ा पृथ्वीपर देवधामको अवतीर्ण करनेवाले महापुरुषके पावन स्थानको अपवित्र करता रहे, क्या लाभ इससे ?'

'तुम करोगे भी क्या ? आत्महत्या क्या तुम्हें छुटकारा दे देगी ?' अध्यक्षने वेधक दृष्टि उसके नेत्रोंपर स्थिर कर दी। 'यह संसार इसी जीवनसे समाप्त तो नहीं होता ! जीव परमात्माका अंश है—सनातन, शाश्वत अंश ! इस आवागमनवाले संसारमें वह नष्ट नहीं होता ! बार-बार आना है, अपने कर्मोंका फल भोगना ही है। जब भागनेसे छुटकारा नहीं तो कायरकी भाँति छटपटानेसे क्या लाभ ! अपनेको दृढ़ करो और··· ।'

'कज्जल उज्ज्वल नहीं हो सकेगा ! वह जहाँ जायगा वहीं कालिख पोतेगा !' रोगीके स्वरमें व्यथा थी; पर व्यग्रता क्षीण होनेके लक्षण स्पष्ट हो गये थे।

'कौन कहता है कि मनुष्य कज्जल है !' अध्यक्षकी वाणी गौरवमयी हो गयी। 'सच्चिदानन्दघन परमात्माका अंश है जीव। इस त्रिगुणात्मक मायामें आकर संसारमें

जीव बन गया है वह। तुम उस विशुद्ध सत्ताके अंश हो। सब सद्‌गुण, समस्त शक्ति तुममें है। वह सदा तुममें थी! उसे जाग्रत् होने दो! उसकी उपस्थितिमें विश्वास करो!'

'गुरुदेव!' नेत्र अश्रुओंसे भर गये। वाणी सम्बोधनतक ही रह गयी।

'गुरुदेव हैं हम सबके श्रीसमर्थ और उनके परम प्रिय शिष्यका प्रसाद तुम्हें प्राप्त है। यह वृद्ध झूठ नहीं बोलता! तुममें सद्‌गुण हैं, शक्ति है और गुरुदेवको उनकी आवश्यकता है! तुम इस प्रकार भाग नहीं सकते! न आश्रमसे, न जीवनसे और न उन रघुनाथदासकी आज्ञासे, जो तुम्हें श्रीसमर्थके रिकध्वजकी पावन छायामें ले आये हैं!' अध्यक्षके नेत्र भी भर आये थे। 'इस समय तुम तनिक निद्रा लेनेका प्रयत्न करो, ओषधि लेनेके पश्चात्!' एक साधु एक पात्रमें कुछ लेकर गुफामें प्रवेश कर रहा था। ओषधि लाया होगा यह समझना सरल है।

'मैं भाग नहीं सकता........' दो क्षण होठोंको हिलाता वह कुछ सोचता रहा और फिर ओषधि लेनेके लिए बच्चेकी भाँति बैठ गया।

(४)

'मैंने बहुत प्रयत्न किया' उसके स्वरमें निराशाके भाव स्पष्ट थे 'मेरा संयम सच्चा नहीं बन सका।' आज वह अपने उद्धारकर्ताके सम्मुख हृदयको भली प्रकार खोल देगा। आज निश्चय हो जाना चाहिये कि उसके लिए इस

समूहमें कोई स्थान है भी या नहीं। अपनी कृत्रिमता वह और नहीं ढोते रह सकता।

'अध्यक्ष तुम्हारी प्रशंसा करते थकते नहीं!' आज रघुनाथदास इस आश्रममें विशेषतः उसका समाचार जानने ही आये हैं। 'तुम्हारे सभी साथी तुम्हें अपने लिए आदर्श बतलाते हैं।'

'मेरा व्यायाम ही दिखायी दे सकता है उन्हें! वे स्वयं अत्यन्त निर्मलचित्त हैं। इसीसे दूसरे भी उन्हें वैसे ही दिखायी देते हैं!' वह अपनी मानसिक स्थितिसे विवश होकर अकेले रहना चाहता है। मनके उद्वेगको मालाकी मणिकाओंसे दबानेका प्रयत्न करता है। अपनेको आश्रमके कामोंमें लगाकर भीतरकी लालसासे छुट्टी पानेका नाट्य कर लेता है। साधु इन्हींको एकान्तप्रियता, भजन, सेवा, एकाग्रता, तल्लीनता, पता नहीं क्या-क्या समझते हैं। 'मेरे मनमें कितना कलुष है, यदि वे जान सकें, कोई मेरी छायाका स्पर्श भी नहीं चाहेगा!'

'तुममें तो कोई दोष है नहीं!' रघुनाथदास तनिक हँसे। 'दोष है तुम्हारी आसक्तिमें!'

'आसक्ति और मैं!' वह समझ नहीं सका कि इन दोनोंको पृथक् कैसे किया जा सकता है।

'नेत्र, कर्ण, रसना, नासिका और त्वचा—ये ही पाँच इन्द्रियाँ तो हैं जो मनुष्यको उद्विग्न करती हैं!' रघुनाथदासने बात स्पष्ट की। 'रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श—इन विषयोंने तुम्हें लुब्ध किया, तुम उनमें प्रवृत्त हुए; किंतु इस समय तो तुमने उनसे अपनेको पृथक्

कर ही लिया है। अब तो केवल ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंकी ओर जानेका प्रयत्नमात्र करती हैं। मन उन्हीं विषयोंका चिन्तन करता हैं। वही इन्द्रियोंको प्रवृत्त करता है।' 'मेरा मन ही तो नहीं मानता!' उसे आशा थी कि कोई ऐसा साधन या मन्त्र बताया जायगा, जिससे मन झटपट परिवर्तित हो सकेगा।

'प्रकृतिमें तीन गुण हैं! कभी एक गुण कभी दूसरा गुण प्रबल होता ही रहता है। प्रकृतिमें प्रवृत्त होनेपर तो मन तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जीवको खींचेंगी ही।' रघुनाथदासजी जैसे बहुत सीधी बात कह रहे हों। 'मन और इन्द्रियाँ प्रकृतिमें न लगें तो यहाँ खींचेंगी भी नहीं!'

'मन यहाँ न रहे तो रहेगा कहाँ?' वह जानता है कि प्रयत्न करके भी जप एवं पूजामें उसका मन लगता नहीं।

'श्रीराघवेन्द्रमें! अंश अपने अंशीमें रहे, तभी उसमें शक्ति, तेज और महत्ता रहती है! अग्निके स्फुलिङ्ग अग्निसे दूर होकर कुछ क्षणमें ही भस्म या कोयला बन जाते हैं!' सामने धूनीमें-से चिनगारियाँ उठ रही थीं। दोनोंकी दृष्टि उन्हींपर थी।

'मेरा प्रयत्न......' वह क्या कहे उसके जीवनमें कोयलेकी कालिमाको छोड़कर और रहा भी क्या है। कहाँ लगता है उसका मन अंशीमें। धूनीसे निकली चिनगारियाँ इधर-उधर उठती और बुझती जा रही हैं। उनकी चट्-चट्का कोई अर्थ नहीं।

'चिनगारियोंका प्रयत्न ही उन्हें दूर नहीं ले जा रहा है, क्या यह कह सकते हो?' साधुने उसकी ओर देखा। 'अपनेको उसपर छोड़ दो और उसे प्रयत्न करने दो!'

'जप, पूजा, साधन..........?'

'पागल हो तुम! मैं कब कहता हूँ कि इन्हें मत करो।' साधुने झिड़का स्नेहसे। 'इनको इसलिए नहीं करना है कि इनसे सब हो जायगा! केवल इसलिए कि वह इनसे सन्तुष्ट होता है।'

'मन क्या मानेगा?' सबसे बड़ी कठिनाई तो यहीं है।

'मन और इन्द्रियाँ—यही तो तुम्हारी जटिलता है! तुम इनकी बात छोड़ दो! तुम सोचो श्रीराघवेन्द्रको, उनके दिव्य रूप, कोमल स्वभाव, मञ्जुल लीलाओंको, मनकी चिन्ता तुम्हें नहीं करनी है।' आश्रमके अध्यक्ष आ रहे थे। कोई साधु दूर गा रहा था—

'**तुलसिदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजे।**'

'प्रेरक प्रभु—वे धनुष-बाणधारी, जटामुकुटी, वल्कलवसनविभूषित, श्यामल-गौर अवधकिशोर जो कहीं इस वनमें ही एक दिन आखेट करते फिरे थे।' वह जानता है कि यह आश्रम पञ्चवटीके विशाल क्षेत्रके समीप ही है। 'प्रभु कभी यहींसे निकले होंगे! ठीक यहींसे!' उसे लग रहा है, जैसे वे दोनों कुमार अभी-अभी निकल गये हैं। भूमिसे उसने धूलि उठाकर मस्तकसे लगायी, जैसे उनके चरण-चिह्नोंकी धूलि उठा रहा हो, इस प्रकार भावमुग्ध होकर!

'मन और इन्द्रियाँ जब प्रकृतिसे उठकर प्रेरकमें लगती हैं तो जीव अंशीमें आकृष्ट हो जाता है!' रघुनाथदासने अध्यक्षकी ओर देखा। 'श्रीसमर्थकी अनुकम्पा अपार है!' अध्यक्षने संचालकके सम्मुख मस्तक झुका लिया था।

★

आवागमन

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

'हरि हरि' चौंककर महर्षि देवल पीछे हट गये। एक बिन्दु जल निकला होगा उनके शरीरसे। कुछ पैरोंमें लगा और थोड़ेसे रजःकण गीले हो गये। एक तुच्छ कीट पैरोंसे कुचल गया था। ऋषिने झुककर देखा, अस्थिहीन कीटका एक भाग पिस गया था। उसमें जीवनके कोई लक्षण नहीं थे।

'मेरे द्वारा यह हत्या क्यों हुई?' आजकी बात छोड़ दीजिये। आज तो मनुष्य मनुष्यके रक्तका प्यासा पिशाच हो गया है। आजके बच्चे क्षुद्र जीवोंको मारकर अपना मनोविनोद करते हैं। मनुष्यकी रसनाकी तृप्तिके लिए लाखों-लाखों पशु-पक्षी नित्य मारे जाते हैं। वह युग ही दूसरा था। नित्य सावधान, पैरोंसे दो हाथ आगेतक ही देखकर चलनेवाले ऋषिसे सहसा हिंसा हो जाय, यह छोटी बात नहीं थी। एक सहज घटना कहकर अपने प्रमादोंको क्षमा करना मनुष्यने सीखा नहीं था।

'इसकी अकाल-मृत्यु हुई!' ऋषिने ऊपरकी ओर देखा। उनके भालपर चिन्ताकी रेखाएँ स्पष्ट हो गयीं। 'क्या प्रकृतिमें कहीं व्यतिक्रम हो रहा है?' आज जब अधिकांश प्राणी रोग, आघात तथा युद्धके द्वारा अकाल

ही मरण पाते हैं, हमारे लिए 'शतं जीवी' स्वाभाविक आयुका पुरुष ही आश्चर्यका विषय हो गया है। जगत्में कोई व्यतिक्रम न हो तो कोई प्राणी अपनी पूरी आयु भोगनेसे पूर्व नहीं मरेगा, यह हम समझ नहीं सकते।

'अब इस जीवयोनिमें स्रष्टा पूर्ति करेंगे! व्यतिक्रम बढ़ता जायगा!' जैसे महर्षि प्रकृतिकी भाग्यलिपि पढ़ रहे हों। एक क्षुद्र कीटका जीवन भी तो समष्टिका अङ्ग ही है। शरीरमें कहीं काँटा लगे, व्यथा तो पूरे शरीरमें व्याप्त होगी। उस कीट-योनिके जीवोंका एक प्राणी समयसे पूर्व मरा अतः नियमतः उसमें एक कीट समयसे पूर्व उत्पन्न होगा। प्रजनन तथा जीवके कर्मभोगमें यह परम्परा पता नहीं कहाँतक अपना प्रभाव डालेगी। आजकी कीड़ों-सी उत्पत्ति और पतंगों-सी मनुष्यकी मृत्युका रहस्य जैसे उसी समय प्रकट हो गया हो।

'मैं निमित्त क्यों बनाया गया?' जिसके मनमें कभी रोष न आया हो, जिसने मनसे भी किसीका अनिष्ट कभी न सोचा हो, अनजानमें भी उससे हिंसा क्यों होनी चाहिये? सृष्टिकर्ता प्रमाद नहीं करते; पर एक सर्वथा सावधान निर्दोष तपस्वी अनर्थोंकी परम्पराका निमित्त बन गया था और इसमें उनकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। कीटको इसी प्रकार मरना था तो क्या सृष्टिमें दूसरे निमित्तोंका अभाव था?

महर्षिने स्नान किया सरस्वतीके पावन जलमें। कौपीन अभी आर्द्र ही था। एक बार स्नान करके भगवान् सूर्यको अर्घ्य निवेदित करके वे हवनके लिए आश्रमकी

ओर जा रहे थे। मार्ग स्वच्छ था। वे पूर्णतः सावधान थे। अवश्य ही किसी पत्तोपरसे वह कीड़ा नीचे उस समय गिरा जब महर्षिका पैर आगेको उठ चुका था। महर्षि असमंजसमें पड़े। उन्होंने लौटकर पुनः स्नान किया। आज मन जपमें लग नहीं रहा है।

'इसे जीवन दे दूँ!' बहुत सीधी सरल बात थी। कमण्डलुसे दो बिन्दु जल उसके ऊपर टपकेंगे और वह फिर रेंगने लगेगा। स्नानसे लौटकर महर्षि फिर उस कीड़ेके पास ही रुक गये। वे झुककर उसे ध्यानसे देखने लगे।

'इन पिपीलिकाओंका आहार छिन जायगा!' कीड़ेके कुचले भागमें दो तीन चींटियाँ लग गयी थीं। उनकी संख्या बढ़ती जा रही थी। ऋषि देखते रहे। चींटियोंने कीड़ेको उठा लिया। वे उसे एक ओर ले चलीं।

'कितना श्रम करती हैं ये!' चीटियों के लिए तो वह भारी ही था। कई बार उनमेंसे कोई चींटी उसके नीचे दबी। अनेक बार वह लुढ़क जाता। नीची-ऊँची भूमिमें उसे उतारना-चढ़ाना सहज नहीं था। चींटियोंकी संख्या बढ़ती गयी। कीड़ेके ले जानेकी गति भी उनकी बढ़ती ही गयी।

'मैं अपहरण नहीं कर सकता!' सृष्टिमें एकको दान दूसरेके लिए अपहरण बनता है। एकका सुख दूसरेके दुःखका कारण होता है। यहाँ तो कोई कार्य ऐसा किया ही नहीं जा सकता जो अपने आपमें निरपेक्ष हो। ऋषि देखते रहे। कीड़ेका शव चींटियोंने दूर पहुँचा दिया। वह तृणमें अदृश्य हो गया।

'यह हत्या और इसकी विकृति ?' केवल इस क्षुद्र दुर्घटनाका कोई महत्व न था। उसमें कोई पाप नहीं हुआ था। उसका प्रायश्चित्त जैसा कोई कर्म आवश्यक नहीं था। किंतु विश्वमें यह जो विकृतिका श्रीगणेश हो गया—परिमार्जन उसका तो होना ही चाहिये। कोई-न-कोई अज्ञात दोष भी होना चाहिये, जिससे कोई अनजानमें ही सही किसीके अपकार, कष्ट या मृत्युका हेतु हो। महर्षि अपना वह दोष दीख नहीं पड़ता।

'कर्म-निर्णेता ही इसका ठीक निर्णय करेंगे!' जीवके लिए यमपुरी भयङ्कर हो सकती है और जीवित मानवके लिए अगम्य भावलोक; पर महर्षिके लिए वह एक स्थान मात्र है, जहाँ वे कुछ क्षणोंमें ही पहुँच जायँगे। अवश्य ही उनकी यात्रा हवनके पश्चात् ही होगी। इस कीड़ेके कारण आज हवनकालका अतिक्रम हो रहा है।

(२)

'स्थूल शरीर अन्नमय है। अन्न तो सड़ेगा ही!' यमराजकी संयमिनी पुरीमें महर्षि देवल सिंहासनपर आसीन थे। धर्मराज हाथ जोड़े खड़े थे। महर्षिकी अर्घ्य-पाद्यादिसे अर्चा समाप्त हो चुकी थी। 'जब आवश्यकता होती है किसीके कर्म समाप्त हो जाते हैं शरीर-भोगके, तब स्थूल शरीर किसी-न-किसी निमित्तसे नष्ट हो जाता है!'

'इस प्रकारके नाशमें एक तापसको निमित्त बनानेमें भी आप संकोच नहीं करते!' कीड़ेका शरीर चींटियोंका

अन्न हो गया, यह तो महर्षि देख ही चुके थे। यह बतानेकी भी कोई आवश्वकता नहीं थी कि प्रत्येक जीव अपने ही कर्मका फल भोगता है। यह तो मुख्य प्रश्नको टालनेकी बातें हैं। उन्होंने धर्मराजकी ओर देखा 'इस आदियुगमें ही जीवोंके कर्म ऐसे होने लगे हैं कि वे अपनी पूर्णायु भोगसे पूर्व ही शरीर छोड़नेपर विवश हों ?'

'एक रात्रिके पूर्व जब आपने सायंकालीन आहुतियाँ निवेदित कीं, कुछ कण मन्त्रपूत साकल्यके बाहर गिर पड़े!' धर्मराजने कारण स्पष्ट किया।

'अबोध कीट यदि उन कणोंका कोई अंश सहज ही पा गया तो उसका अपराध क्या?' महर्षिका सन्तोष उत्तरसे हुआ नहीं था।

'मन्त्रपूत साकल्यकी शक्ति कृमिदेह वहन करनेमें असमर्थ था!' एक परम तापसने जिस शुद्धतम हविष्का संचय किया, श्रुतिके साङ्ग शुद्ध मन्त्रोंसे जिसको अभिमन्त्रित किया गया, उस द्रव्यकी प्राण-शक्ति महनीय होनी ही चाहिये। 'कीट-शरीरसे जीवने वह प्राणशक्ति उपलब्ध करके उन्नति की। जैसे ही उस अन्नका पाचन हुआ, शरीर उसकी शक्तिको धारण करनेमें असमर्थ हो गया!' आदियुगमें जीव अकालमें शरीर त्याग करनेको सामान्यतः विवश नहीं होता; किंतु सत्त्वके सत्त्वगुणका उत्कर्ष उन्नतिके लिए क्षुद्र शरीरकी पूर्णायुके बन्धनमें रहे, ऐसा नहीं हो सकता।

'प्रमादका दण्ड प्रमाद है।' महर्षिने स्वतः कहा। यज्ञीय अग्निमें अर्पित करनेके लिए अभिमन्त्रित हविका

कोई कण बाहर गिर पड़े, यह प्रमाद हुआ था और इसी प्रमादने उस कीटके शरीरके नाशमें उन्हें निमित्त बनाया था। एक असत्यको छिपानेके लिए जैसे झूठकी परम्परा चलती है, वैसे ही प्रमादकी परम्परा थी यह।

'अनजानमें उसने आपके प्रति ही अपराध किया था!' धर्मराजने इस प्रकार मस्तक झुकाया जैसे महर्षिने जो कुछ कहा, वे उसका समर्थन कर रहे हों।

'उसका हुआ क्या?' जिसका किसी भी प्रकार अपनेसे संग हो गया, उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो 'सतां सप्तपदी मैत्री' का अर्थ ही क्या रहे।

'स्थूल शरीरके साथ उसकी असमर्थता नष्ट हो गयी। अपनी ज्ञानेन्द्रियों और मनके साथ अनुभूतिके क्षेत्रमें वह स्वतन्त्र हो गया।' शरीरके साथ शरीरके रोग, असमर्थता, अल्पता आदि दोष नष्ट हो ही जायँगे। प्रश्न तो यह था कि मनके विकार, दोष तथा पूर्व कर्मोंने उस जीवकी क्या अवस्था की। धर्मराज कदाचित् अपनी व्यवस्थामें बाधा पड़नेकी सम्भावनासे ही बात टाल जाना चाहते थे।

'अनुभूतिके क्षेत्रमें कहाँ?' महर्षिने सीधे ही पूछा। स्वर्ग और नरक दोनों ही तो स्वतन्त्र अनुभूतिके क्षेत्र हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके साथ काल्पनिक (मानसिक) सुख तथा दुःख दोनोंकी चरम सीमा इनमें उपलब्ध होती है 'वह स्वर्गका उपभोक्ता रहेगा कुछ कालतक।' हविष्यकी पावन शक्तिका सुखोपभोग स्वर्गमें ही उपलब्ध हो सकता है।

'मैं उसे अपना समस्त पुण्य प्रदान करता हूँ।' हाथमें जल लेकर महर्षिको सङ्कल्प करते देर न लगी। क्यों कुछ काल ही वह बेचारा स्वर्गमें रहे। वह क्यों न स्वर्गका ही अखण्ड उपभोग करे।

'अभागा प्राणी!' धर्मराजने प्रसन्नता प्रकट नहीं की।

'क्यों?' महर्षि चौंके। कहीं प्रमादोंकी परम्परा चलती ही तो नहीं जाती है।

'कालका कोई अर्थ नहीं। वह अधिक-से-अधिक कल्पपर्यन्त अमरावतीका उपभोक्ता रहेगा!' कल्प और क्षण जिनके लिए समान हैं, जो कालके मिथ्यात्वके साक्षी हैं, उनके लिए पुण्य-दानका दृश्य प्रोत्साहक नहीं हो सकता था।

'और एक तापस दे भी क्या सकता है!' महर्षिने खिन्न स्वरमें उस लोकनिर्णायककी ओर देखा। सचमुच ही अपने दानकी तुच्छता उन्हें प्रतीत हो रही थी।

'मर्त्यलोक ही उन्नतिका क्षेत्र है!' धर्मराजको केवल स्मरण दिलाना था।

'मैं आपका अभ्यागत हूँ!' ऋषिने याचनाके स्वरमें कहा। 'मुझे कुछ देंगे नहीं आप?'

'मेरा सौभाग्य!' एक त्रिलोकवन्दित महर्षिकी सेवा हो सके, यह तो देवराजके लिए भी सौभाग्यका ही सूचक होगा। ऐसा अवसर धर्मराज कहीं छोड़ सकते हैं?

'मैंने उसे केवल पुण्य ही प्रदान किये हैं, कर्मयोनिमें आने दीजिये उसे!' अपने लिए उन पूर्णकामको कुछ न माँगना था और न उसकी कोई सम्भावना थी।

'मैं केवल कर्मोंकी व्यवस्थामात्र करनेकी शक्ति रखता हूँ!' धर्मराजने मस्तक झुका लिया। यदि वे किसीको मनुष्ययोनि देनेमें समर्थ होते, तो देवता स्वर्गकी अपेक्षा भारतभूमिमें रहनेको कबसे उत्कण्ठित हैं। 'वह एक मन्वन्तर अमर भोगोंका आनन्द लेनेके पश्चात ही मानव हो सकता है!'

(३)

'जैसे पुष्पसे वायु अपने साथ सुगन्ध ले जाता है, वैसे ही जीवके साथ मन तथा इन्द्रियाँ भी जाती हैं।' महर्षिने उसे समझानेका प्रयत्न किया।

'गन्धहीन वायु तो ठीक, पर मन-इन्द्रियोंसे रहित जीव कैसा?' आज वह पहली बार किसीकी बात सुननेको उद्यत हुआ। विषयोंसे प्राप्त सुख ही उसके लक्ष्य रहे हैं। न्याय अन्यायकी बात दुर्बल सोचें। उसके पास शक्ति है, सम्पत्ति है, स्वास्थ्य है, फिर वह उपभोग क्यों न करे; पर है वह बुद्धिमान्। कोई भी नवीन बात सुनने-समझनेमें उसे आनन्द आता है। आज तो यह जटाधारी साधु आया है, पता नहीं क्यों उसकी श्रद्धा हो चली है इसमें। बेकार रहकर समाजपर भार बननेवाले इन साधुओंसे उसे सदा घृणा रही है। आज उसे एक विलक्षण साधु मिला है, जो कुछ माँगता नहीं। भोजन करनेका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। ऐसे साधुकी बात तो सुननी ही चाहिये। उसने अपनी शङ्का और स्पष्ट की—'बहिरे लोग सुन नहीं पाते। अन्धे देख नहीं पाते। मूर्ख सोच नहीं पाते। मरनेपर कुछ नहीं होता।'

'तुमने शरीरके गोलकोंको ही इन्द्रियाँ माना है।' महर्षि क्या करें। कलियुगके इस विषयी मानवसे उन्हें आज उलझना पड़ा है। यह मुक्त हो जाय तो प्रमादकी परम्परा समाप्त हो। स्त्रष्टाके कर्म-विधानमें हस्तक्षेप सदा प्रमादसे ही होता है। वे सर्वेश्वर करुणासिन्धु जिस जीवके लिए जो विधान करते हैं, उसके लिए वही ठीक है। एक कोड़ा किसीका पुण्यदान प्राप्त करके जब स्वर्ग भोगकर कर्मयोनिमें आवेगा, वह विषयी हो जायगा; अपने पतनका मार्ग उन्मुक्त करेगा, यह तो मनमें ही आनेकी बात नहीं थी। पिताकी उपार्जित सम्पत्ति पुत्रको प्राय: व्यसनी बना देती है, यह तो अब ध्यानमें आ रहा है। अब तो इस परम्पराको जो इस जीवसे जुड़ गयी है, समाप्त करके ही छुटकारा है। ऋषिने समझाया— 'तुम्हारे ये प्रकाश-यन्त्र यदि नष्ट हो जायँ तो प्रकाशिका शक्ति रहेगी या नष्ट हो जायगी ?'

'मैं दूसरा बल्ब लगा दूँगा। विद्युत् तो रहेगी ही !' बात उसकी समझमें आ रही थी। लेकिन ये नाक, आँख, कान आदि यन्त्र हैं तो इनकी शक्ति ?

'स्वप्नमें भी तुम देखते, छूते, खाते हो !' उसे समझाया गया। 'उस समय इन्द्रियाँ बाहरी यन्त्रोंसे सम्बन्धित नहीं होतीं। अत: बाहरी पदार्थोंका ज्ञान तथा उपभोग नहीं होता। मानसिक ज्ञान होता है उन्हें।'

'कदाचित् अन्धा भी मनमें रूपकी कोई भावना करता होगा और बहिरा शब्दकी।' उसने मनन किया।

'जैसे स्वप्नमें तुम्हें तब भी कोई रोग नहीं होता, जब बाहर ज्वर आता है!' बात स्पष्ट ही कही गयी, पर अर्थ कुछ और हो गया। वह चाहे साधुओंको माने या न माने; परन्तु अनेक बार भय तो उसे लगता ही है। बड़ी आतुरतासे बोला—'आप मुझे बीमार होने का शाप न दें।'

'मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे मानसिक रोग भी दूर हो जायँ!' महर्षिने आश्वासन दिया। 'मेरा तात्पर्य इतना ही है कि इस शरीरके सुख या दुःख जैसे स्वप्नमें नहीं रहते, वैसे ही मरनेपर शरीरकी त्रुटियाँ—अन्धापन आदि भी साथ नहीं जाता।'

'मैं मरनेकी इच्छा नहीं रखता!' ऋषि शाप देंगे, यह भय न होनेपर भी उसने स्पष्ट बता देना ठीक समझा। ये साधु पता नहीं कैसे परीक्षण करने लगे। 'मन तथा इन्द्रियोंसे भिन्न कुछ है, यह बात क्या बिना मृत्युके समझी नहीं जा सकती?'

'तुमने स्वयं कहा है कि निद्रामें कुछ नहीं रहता।' इस शङ्काको स्थान नहीं देना था कि तब मृत्युमें भी मन आदि न रहेंगे। मृत्यु महानिद्रा है; परन्तु निद्रामें शरीर श्रान्त हो जाता है, अतः मन-इन्द्रियाँ सो जाते हैं। मृत्युमें शरीरकी श्रान्ति न होनेसे ये जागते रहते हैं। निन्द्रामें जो मन आदिके सो जानेपर भी जाग्रत् रहकर श्वास एवं जीवनको चलाता है, वह तो मृत्युमें भी रहता ही है।'

'आपकी बात ठीक हो सकती है।' कुछ सोचा उसने परन्तु वायु जहाँसे जायगा, वहाँकी गन्ध उसमें स्वतः आ

जायगी। जीव भी मन-इन्द्रियोंके साथ जहाँ जायगा, वहाँकी प्रकृतिके अनुसार व्यवहार करेगा।

'तुम अपनेको वायुके समान जड़ नहीं मान सकते।' महर्षिने कुछ प्रसन्न होकर कहा—'अवश्य ही सामान्य दृष्टिसे अपने पुराने अभ्यासोंसे पुरुष विवश जान पड़ता है, पर वह उन्हें छोड़ सकता है। अपने कर्मोंके सम्बंधमें और फलतः अपनी गतिके सम्बन्धमें वह स्वतन्त्र है। तुम समर्थ हो अपनी गतिको मोड़नेमें। कोई तुम्हें विवश नहीं कर सकता।'

सचमुच उसे पसंद नहीं कि कोई उसे विवश करे। वह सर्वथा स्वतन्त्र रहना चाहता है। कोई उसपर दबाब डाले, कोई उसे अपने संकेतपर चलावे, वह किसीके पराधीन रहे, यह कैसे सहा जा सकता है। उसने आश्चर्यसे देखा, जिसे वह सामान्य साधु समझ रहा था, वह तो सहसा अदृश्य हो गया। उसके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो गया। उसने अपनेको कुर्सीपर सम्हाला। दूर आकाशसे जैसे कोई कह रहा हो—'तुम मनके दास नहीं बन सकते। मन तुम्हें परतन्त्र करके नचावे, यह तुम्हारे लिए शोभास्पद नहीं!'

(४)

'यह रसोइया मूर्ख है, इसने सागमें नमक ही नहीं डाला।' उसे रोष आया। रसोइयेको डाँटना चाहिये। निकाल देना चाहिये। अच्छा, तो मन चाहता है कि 'नमकहीन साग न खाया जाय। मैं रसोइयेपर बिगड़ूँ।' उसने एक शब्द नहीं कहा सागके सम्बन्धमें। रसोइयेको पुरस्कार मिलेगा यह बता दिया और आदेश दे दिया कि

कलसे उसके किसी भोजनमें नमक या चीनी न पड़े। चीनी भी तो मनको अच्छी लगती है। वह मनका सेवक नहीं रहेगा। मनकी कोई बात नहीं मानेगा।

'इस पत्रने आपकी निन्दा की है!' मुनीमने बताया 'इसे हमारी ओरसे मिलने वाली सहायता बन्द हो जानी चाहिये।'

'इसे उतनी ही सहायता और दे दो और लिख दो कि हमारे दोषोंको वह इसी प्रकार सूचित करता रहा तो यह सहायता मासिकरूपसे दी जायेगी।' मुनीम यदि आश्चर्यसे अपने तरुण स्वामीका मुख देखता रहे तो क्या उपाय। मनकी बात उसे करनी नहीं। 'मनने मुनीमका समर्थन किया तो उसके विपरीत निर्णय करना पड़ा उसे।'

'मेरा बच्चा बीमार है, मुझे एक दिनकी छुट्टी मिल जाय!' डरते-डरते नौकरने कहा। 'घरमें उसकी औषधके लिए एक कौड़ी नहीं!'

'दूसरा नौकर अभी लौटा नहीं। इसे छुट्टी देनेपर घरका काम कौन करेगा?' मन तो अपनी बात कहनेसे रुकनेवाला नहीं। 'यह पहलेसे एक महीने आगेका वेतन ले चुका है। इसे और नहीं देना चाहिये।'

'तुम बच्चेके अच्छे होनेतक घरपर ही रहो!' नौकर तो डरा कि उसे निकाला जा रहा है। उसके स्वामी तो इतने उदार कभी न थे। 'डरो मत, तुम्हारा वेतन नहीं कटेगा। यह ले जाओ!' आवश्यकता हो तो और ले जाना!' उन्होंने एक नोट फेंक दिया उसकी ओर।

'मालिक, यह दस रुपयेका है!' नौकरने समझा एक रुपयेका समझकर उसे वह नोट दिया गया है।

'हाँ, दसका ही तो है!' वह हँस पड़े। मनके विपरीत प्रयत्नमें कितना आनन्द है। यह तो नवीन अनुभव हो रहा है। इस बेचारेको डाँटकर तो पता नहीं कबतक झल्लाहट ही रहती।

आप मनुष्यका प्रयत्न कहिये या महर्षिकी कृपाका फल—स्थिति बदल गयी वहाँ। भोजनमें स्वाद आया और स्वादका कारण बदला गया। शय्या छूटी और भूमिपर सोने लगे। रेशमी वस्त्रोंका स्थान मोटे वस्त्रोंने लिया। लड़ना, झगड़ना, डाँटना सब गया। कहाँ तो संस्थाओं, सभाओंमें सभापति होनेके लिए प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रयत्न होते थे, कहाँ अब आग्रह करनेपर भी जाना नहीं होता। कोई गाली दे तो उसकी चिन्ता नहीं, कोई निन्दा करे तो अच्छा। कोई प्रशंसा करे तो उठ भागेंगे।

मन—अन्ततः वह मनुष्यका ही तो मन है। उसने माँग करनी बंद कर दी धीरे-धीरे। जब कोई सदा किसीकी माँगसे ठीक उल्टा कार्य करे तो उसके साथ माँगना कबतक चलाया जा सकता है। बेचारा मन—वह अपना हुआ तो क्या। इससे तो अच्छा होता कि वह दूसरेका होता। वह तो जैसे शून्य हो रहा है।

लोग कहते हैं—'ये तो देवता हैं! ऐसा त्यागी, तपस्वी, साधु क्या कहीं मिल सकता है।' जिसे सेवा करने, श्रम करने, त्याग करनेमें ही सुख मिलता हो, जिसे अपनी हानि, अपना कष्ट, अपनी अप्रतिष्ठा व्यथित न करती हो, उसे क्या सामान्यमनुष्य कहा जा सकता है?

उसे तो केवल मनकी बात नहीं माननी है। मनका दास नहीं होना है और सचमुच उसने एक समस्या खड़ी कर दी उस दिन, जब उसका अन्तिम समय निकट आया। मनने कहा—'आपने बहुत पुण्य किया है, आपको स्वर्ग मिलेगा !'

'स्वर्गमें तुम्हें सुख चाहिये न ? मैं नरक चलूँगा !' उसे तो मनकी बात करनी नहीं। वहाँ संयमिनीमें चित्रगुप्तने मस्तकपर हाथ दे मारा। किस पापके लिए, किस शक्तिसे वे उसे नरकमें जानेको कहें ! धर्मराजके सम्मुख समस्या आ गयी !

'महर्षि ! आप अपने शिष्यको समझायें ! एकमात्र महर्षि देवल ही यमराजको इस समस्यासे मुक्त कर सकते थे। उसका भैंसा महर्षिके समीप तपोलोक जा पहुँचा।

'आप फिर मुझे निमित्त बनाना चाहते हैं !' महर्षि हँसे। शिष्यके पास उन्हें आना पड़ा। 'वत्स ! तू नरक चाहता है ? पर वहाँ भी मनका ही तो भोग है ! मन और इन्द्रियाँ वहाँ भी तो साथ जायँगी।'

'गुरुदेव ?' उसने जिज्ञासा एवं श्रद्धापूर्वक देखा। शरीर उठनेमें असमर्थ हो चुका था।

'तू समर्थ है ! कुछ मत चाह ! कोई इच्छा न कर ! छोड़ दे मनको और इन्द्रियोंको !' महर्षिने धर्मराजकी ओर देखा। वे रिक्तहस्त लौट रहे थे। मन-इन्द्रियोंसे ऊपर जानेवाला उनके साथ नहीं जाता।

उपभोग

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

'तनिक धीरे!' हम सब कीर्तन कर रहे थे। मेरे समीप बैठे उन वयोवृद्ध पुरुषने मुझे अत्यन्त नम्रतासे रोका। बचपनसे मेरी संगीतमें रुचि नहीं है। निपुण गायकोंके कलात्मक आलाप जिसे 'आयँ आयँ' लगते हों, जो उनके संगीतके रसकी अपेक्षा उनके पूरे खुले मुखमें एक चुटकी चीनी डालनेपर क्या होगा, इस कल्पनामें अधिक आनन्द पाता हो, उसके हाथकी झाँझ बेसुरी बजे, यह स्वाभाविक ही था। मैं अपनी समझसे धीरे-धीरे बजा रहा था। वे मेरे आदरणीय हैं। चेतावनीने संकुचित किया। हाथ सर्वथा रुक गये।

'कीर्तनमें भगवान्‌के नामका आनन्द है।' कभी मेरे एक मित्रने किसी महात्मासे सुनी बात सुनायी थी। 'सुन्दर स्वर, मधुर वाद्य, सम्यक् ताल सुनना हो तो संगीतगोष्ठियोंमें जाना चाहिये। यहाँ तो एक सप्तममें बोलेगा और एक पञ्चममें। एककी ताली पिट्-पिट् करेगी और दूसरेका झाँझ फट्-फट्। यहाँ तो नाममें ही रसानुभव किया जा सकता है। भगवान्‌का नाम ही रसरूप है।' कीर्तन चल रहा था। और मैं अपनी उधेड़-बुनमें था।

'स्वर, साज और एकतानता अपने मनको भी तो तल्लीन करती है!' मैंने सोचा। वे ही आगे-आगे बोल रहे थे। सब मिलकर बोलनेका प्रयत्न न करें, सब झाँझ बेढंगे पीटने लगें तो कोई भी नामका कीर्तन कर कैसे सकता है। 'देवर्षि नारदने लय एवं ताल भंग किया तो राग-रागिनियोंके अङ्गभङ्ग हो गये। उन्होंने देवर्षिको उलाहना दिया।' एक प्राचीन आख्यान स्मरण आया। देवर्षि और कुछ तो गाते नहीं। वे तो सदा भगवान्‌का कीर्तन ही करते हैं। स्वर-ताल तो उनके लिए भी आवश्यक है।

'यह अपने बसकी बात नहीं।' मैंने एक प्रकारसे झाँझ बजाना बन्द ही कर लिया था। मैं और चाहे जो बन सकूँ, गायक बनना तो दूर, गायनका ठीक श्रोता भी नहीं बन सकता—इस सम्बन्धमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। अपने लिए मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। मेरे पास 'कान' नहीं हैं।

'बेचारे बहिरे!' गायन भी 'श्रुति' है और उसको समझनेके लिए भी विशेष 'कान' चाहिये—यह मनमें आते ही उनका स्मरण आया, जो शब्द सुन ही नहीं सकते। 'कर्णके दुरुपयोगका परिणाम मिला है। उन्हें! जिस इन्द्रियका ठीक उपयोग न होगा, उसकी शक्ति नष्ट हो जायगी—यह बात लोकमें प्रत्यक्ष है। जब किसीकी जन्मसे कोई इन्द्रिय विकृत होती है, तब मान लेते हैं कि उसने पूर्वजन्ममें उसका दुरुपयोग किया है।

'ऐसा भी क्या कीर्तन, जो सबके बसकी बात न

हो !' सच तो यह है कि मैं अपनी दुर्बलता संकीर्तनपर लाद रहा था ।

'कोई लाठियाँ खटखटाता है, कोई ताली बजाता है, कोई अटपटे आलाप लेता है।' सहसा एक दृश्य आया मनमें । 'गायें बाँ-बाँ करती हैं, बछड़े हुम्मा-हुम्मा पुकारते हैं, बंदर हूप-हूप करते हैं, मेढक टर्राते हैं, मयूर पुकारते हैं और कोयल कूकती है। सब बोलते हैं। सबके शब्द मनमाने और अनियन्त्रित है; किंतु जैसे सब एक ही संगीतके साज हैं। सबमें 'सम' है। सब एक लयमें बाँध दिये गये हैं। कदम्बमूलसे तनिक टिककर एक मयूरमुकुटी, पीताम्बरधारी, त्रिभंगसुन्दर खड़ा है। उसकी कोमल लाला अँगुलियाँ मुरलीके छिद्रोंपर फुदकती हैं—फुदकती जाती हैं। मुरलीकी वह स्वरलहरी, उसमें स्वरभंग नहीं आता। कोई ध्वनि उसके तालमें बाधा नहीं देती। सब ध्वनियाँ, सब स्वर उसके साज बन गये हैं। सब उसे उद्दीप्त करते हैं। सबमें वह साम्य ला रही है।'

मेरे हाथमें झाँझ सम्भवतः फिर वेगसे बजने लगी थी। मैं कह नहीं सकता कि मेरा स्वर दूसरोंसे मिलता है या नहीं; क्योंकि इसे पहचानना मैं जानता ही नहीं। इतनी बात अवश्य है कि मुझे किसीने फिर रोका नहीं।

× × ×

'प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।'

'सुन्दर मुख, पतली अँगुलियाँ, उज्ज्वल नेत्र' किया क्या जाय ? मन मानता नहीं। दृष्टि इधर-उधर

जाती है। 'यह फूला हुआ पैर कितना भद्दा दीखता है।' एक ओरसे नेत्र हटाये तो वे दूसरी ओर गये।

'माताने मुख भी नहीं धोया है।' छोटे-से बच्चेका मुख स्वच्छ न होनेसे विचित्र हो गया था।

'यह अस्वच्छता, यह फूला पैर, वह कोमल मुख!' मनमें एक विचार आया 'वही चर्म, रक्त, माँस और हड्डियाँ! कहीं कोई रोग हो जाय तो....।' एक रोगीका स्मरण हुआ। उसके पूरे शरीरमें खुजली हुई थी। बड़े-बड़े फोड़े फूट रहे थे। मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। बार-बार कपड़ेसे वह मवाद पोंछता और चिल्लाता था। सारा शरीर सिहर उठा उस स्मृतिसे।

'अच्छे हैं वे, जो इस रूपके धोखेमें नहीं आते!' नेत्रहीनोंका स्मरण हुआ। 'सुन्दर कोमल पुष्प, कलापूर्ण चित्र, कूदते-खेलते शिशु यदि ये सब विश्वमें न हों?' जिनके नेत्र नहीं हैं, उनके लिए तो होकर भी ये नहीं हैं। कितना कष्ट होता है नेत्रज्योतिके न रहनेपर—मैं एक कल्पना कर सकता हूँ।

'स्वप्न......नेत्रहीनके लिए निद्रा ही वरदान है!' जब जीव स्वर्ग और नरकके दृश्य देखता है, तब स्वप्न भी देखता ही होगा। मुझे किसी जन्मान्धसे यह पूछनेका अवसर नहीं मिला कि उसकी स्वप्नकी अनुभूति क्या है? क्या वह स्वप्न ही नहीं देखता? वह वहाँ भी अपनेको अन्धा ही देखता है? रूपका ज्ञान उसे वहाँ भी नहीं होता? ऐसा तो नहीं होना चाहिये।

'सूरदासजी ? लोग कहते हैं कि वे जन्मान्ध नहीं थे। देखनेवाले भी क्या इतना स्पष्ट वर्णन कर सकते हैं ? तब स्मरणसे भगवान्‌के रूपका वर्णन इतना सूक्ष्म कैसे सम्भव है !' मनको तो कुछ सोचनेको चाहिये। एक पद—पद नहीं, पदके किसी अंशका भाव स्मरण आ रहा है—'श्यामने रोते-रोते दोनों हाथोंसे मलकर काजल नाक और कपोलोंतक फैला दिया है। उसने गोमूत्रमें गीले गोबरको लपेट लिया है इधर-उधर और मैया उसे गोदमें लेकर मुग्ध होकर देख रही हैं। उनकी नवीन साड़ी उस कीचड़से सन गयी, यह सोचती ही नहीं वे।'

'जो केसरकी खौर और गोबरके धब्बेसे समानरूपसे भूषित होता है, जिसे मणि और गुञ्जा दोनोंकी मालाएँ भरपूर फबती हैं, जिसकी शोभा कोमल किसलय, कस्तूरिकाङ्गराग या हरी दूर्वा तथा गैरिकको भी शोभित करती है, उसीका रूप तो रूप है !' कुछ पढ़ा जा रहा था। भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यकी कोई बात थी उसमें और मैं सोचता हूँ 'नेत्र क्या भगवान्‌ने ये सड़नेवाले रूप देखनेको ही दिये हैं ? ये रूप—सचमुच ये रूप भी हैं ?'

'मुझे भी बैठने दीजिये।' राजा साहबने तनिक संकोच एवं बन्धुत्वसे आग्रह किया और आगे खिसक आये। उन्होंने कटोरीमें-से तैल लिया और चरणोंमें मलने लगे। बिवाइयाँ फटीं, काँटेसे कठोर निकले स्थान-स्थानपर चमड़े थे उनके चरणोंमें, और कहाँ ये हाथ, कोमल लाल रुई-जैसे। तनिक-सा किसीसे हाथ मिलाते हैं और अँगुलियाँ ऐसी हो जाती हैं, जैसे उनसे रक्त टपक पड़ेगा।

'अच्छा, आप मलिये चरणोंमें भली प्रकार तैलको !' मैं तो सदासे धृष्ट हूँ। महात्माओंसे भी भय करना चाहिये, यह अपनी समझमें आता ही नहीं। जिनके हृदयमें परत्वकी भावना ही नहीं, मनुष्य उनसे न निर्भय हो तो और कहाँ निःसंकोच होगा। राजा साहब तो यहाँ आकर राजा नहीं रहते। उनके व्यवहारने उन्हें यहाँके वातावरणमें हिला-मिला दिया है। मैं वहाँसे उठकर मस्तक दबाने लगा।

'भाई ! आपके कारण मुझे भी यह सौभाग्य मिला है।' सचमुच राजा साहब चरणोंमें भली प्रकार तैल मल रहे थे। उन्हें आनन्द आ रहा था। उनके हाथ लाल हो गये; पर वे थके हों, ऐसा नहीं लगता था। उनके सेवकने उनका स्थान लेना चाहा, पर वह संकेतसे रोक दिया गया।

'आज बच्चोंका आग्रह विजयी हुआ है।' मैंने हाथोंकी ओर देखा। महात्माने एक बार मेरी ओर देखा था एक विचित्र दृष्टिसे, जैसे कह रहे हों 'बड़ा उद्धत है तू।' मैं जानता हूँ कि वे किसीकी कोई सेवा इस प्रकार स्वीकार नहीं करते। उन्हें बुलानेके लिए अखण्ड कीर्तन करना पड़ता है। उन्हें भोजन कराने और जल पिलानेके लिए निश्चित संख्यामें जप करके पदार्थकी शुद्धि करनी पड़ती ,है। उनकी तनिक-ही शरीर-सेवाके लिए घण्टों जप करके अपनी शरीरशुद्धि आवश्यक होती है। अखण्ड कीर्तन चल रहा था और भोजन-सामग्री उनके साथ आयी थी। यहाँ उन्हें कुछ लेना नहीं था पर भाव सबसे बड़ी शुद्धि है।

मैंने अपने लिए तैलकी शीशी मँगायी थी। नवीन शीशी खोलकर तैल कटोरीमें भर लिया और पैरोंके पास बैठ गया। 'मैं इस समय जप करनेसे रहा!' मेरी हठका तिरस्कार कर नहीं पा रहे थे वे कृपामूर्ति और जब एककी धृष्टता चल गयी, तब दूसरेको कैसे रोका जाय।

'महाराजके चरणोंमें काँटे गड़े हैं!' मैंने देखा राजा साहबके नेत्र भर आये। राजा साहबको भी काँटे चुभे होंगे। शिकारका उन्हें व्यसन है, अतः काँटोंका अनुभव कठिन नहीं। मुझे तो अपना स्मरण है, नागफनीका एक काँटा पैरोंसे सीधा चुभ गया था। लगभग एक इंच भीतरसे उसे खींचनेपर रक्तकी धारा निकल पड़ी। मत पूछिये उस कष्टको!

'इन पैरोंमें लगकर काँटे भी टूटते ही हैं, कष्ट नहीं देते।' एक सीमातक महात्माकी बात ही सच थी। नंगे पैरों चलनेसे तलवेका चर्म बहुत मोटा और कठोर हो गया था। 'तुम्हारे हाथ लाल हो गये, अब रहने दो! वहाँके मृत चर्मपर तैल भला क्या जान पड़ेगा।' राजा साहबके हाथ सचमुच दया करनेकी स्थितिमें थे।

'भगवान्‌के श्रीचरण मिलेंगे, इसकी तो आशा नहीं।' चरणोंपर मस्तक रखकर फिर वे दुगुने वेगसे तलवोंको मलने लगे। उनके नेत्र कह रहे थे 'दया करके मुझे रोकिये मत!'

'मृदुल और कठोर?' मैं सोचने लगा था। 'जब मैं बिछौनेपर बराबर एक स्थानपर पड़ा रहता हूँ, वह कठोर

लगने लगता है ; पर ये कर जिन चरणोंमें मृदुलता पा रहे हैं आज, वह मृदुलता कैसी है ?'

'स्पर्शका तुम्हारा नियम ठीक नहीं दीखता।' मनने कहा। 'वह कुम्हार अपनी पूजाके दिन अग्निपर नंगे पैरों चल रहा था। न तो उसने 'सी' किया और न उसके पैरोंमें छाले पड़े और कल वह पैसे माँग रहा था जूतोंके लिए। दोपहरीमें घर जाते समय धूपमें पैर जलनेका कष्ट सहना उसके लिए भारी हो रहा है।'

'भगवान्‌के चरण दुर्लभ तो नहीं हैं।' महात्मा समझाने लगे। वही प्रेम, निष्ठा, विश्वास, भजन और व्याकुलताकी बात, जो सत्य है—यह जानकर भी मनमें बैठती नहीं। जीवन जिसे स्वीकार करनेमें, पता नहीं, क्यों हिचकता रहता है।

'भगवान्‌के श्रीचरण !' त्वचा सार्थक हो जाय यदि एक बार भी उनका स्पर्श हो। स्नानके लिए जल रक्खा जा चुका था। तैल-मर्दन समाप्त करना ही चाहिये। मैंने देखा राजा साहबकी स्पर्शेन्द्रिय सार्थक हो गयी है। वे महात्माके चरणोंके अँगूठेको नेत्रोंकी पलकोंसे लगा रहे थे।

× × ×

'थोड़ी-सी चटनी लीजिये ! आज बहुत स्वादिष्ट बनी है !'

'मुझे खटाई अच्छी नहीं लगती !'

'आँवलेकी बनी है !'

'तब तो ले लूँगा !' आँवलेसे मुझे कुछ अधिक रुचि है। 'लाल मिर्च तो नहीं पड़ी ?'

'थोड़ी-सी हरी मिर्च पड़ी है। बहुत थोड़ी !' वे इस प्रकार आग्रह कर रहे थे, जैसे कोई अमृत दिया जा रहा हो। रुचिका निर्णय व्यक्ति अपनेसे ही तो करता है।

'तब मुझे नहीं चाहिये !'

'आप एकदम मिर्च नहीं खाते ?'

'प्रायः नहीं !' और तभी स्मरण आयी एक घटना। मेरे एक मित्रने एक बार अपनी थाली हटायी सामनेसे। बहुत कुछ थालीमें था। उनके नेत्रोंसे पानी बह रहा था। हिचकियाँ आ रही थीं।

'लाओ, मुझे दे दो !' मैंने वह उच्छिष्ट लेनेका प्रयत्न किया।

'मैं जूँठा नहीं दूँगा !' वे थाली हटाने लगे।

'भगवान् बद्रीनाथका प्रसाद उच्छिष्ट नहीं होता !'

'मैं इसे अभी भोजन करूँगा ! मेरा पेट भरा कहाँ है !' मैं आग्रह न करता तो वह कदाचित् प्रसादको सबेरेके लिए रख देते। उस हिम-प्रान्तमें प्रसादमें इतनी मिर्च कदाचित् उचित हो।

'राधा बड़ी कठिनतासे थोड़ा-सा दूध पीती है।' मुझे कई बच्चे स्मरण आये। किसीको घीकी गन्धसे अरुचि थी, कोई मीठी चीजोंको फेंक देता था। एक तो नमकको चीनीकी अपेक्षा अधिक प्रेमसे फाँक लेता है।

'लोगोंका रसास्वाद भी एक नहीं।' भोजनके साथ मैं उनकी ओर देख रहा था, जिन्होंने पिसी हुई लाल मिर्च ऊपरसे माँगकर अपनी थालीकी दाल लाल बना ली थी।

'रसो वै सः' रसरूप तो वह लीलामय ही है। श्रुतिने पता नहीं क्या कहा इस मन्त्रमें; पर मन कहता है, 'जिसके प्रसादकी भावनामें ही सब रस केवल रस रह जाते हैं, उसका सचमुच प्रसाद यदि रसनाको मिले?' मिल तो सकता ही है और संत उससे भिन्न कहाँ हैं? पर अहङ्कार 'सीथ' को प्रसाद बनने दे तब न!

× × ×

'आप काले वस्त्र क्यों पहनते हैं?' मैंने उन्हें प्रायः काले कपड़ोंमें ही देखा है। उनका इतना मृदु व्यवहार अपने प्रति न होता तो इतने प्रख्यात विद्वान्से ऐसी बात पूछनेका साहस न होता।

'मुझे इत्र लगानेका व्यसन है।' बड़ी सरलतासे उन्होंने बता दिया। 'दूसरे रंगके वस्त्रोंमें धब्बे पड़ जाते हैं।'

'हमने पूरे शरीरमें प्याजका रस मला। मार्गभर प्याजका टुकड़ा नाकसे लगाये रहे। इतनेपर भी भय था कि कहीं गिरे तो फिर संसारमें लौटनेको उठ नहीं सकेंगे। सिरपर पैर रखकर भागे जा रहे थे। मस्तिष्कमें बराबर मादकता बढ़ती जाती थी। जैसे निद्रा आ रही हो। अब

गिरे तब गिरे !' पूरी बात तो भूल गयी, पर यह किसीकी उत्तराखण्ड-यात्राका एक वर्णन है। वहाँ किसी विशेष सरोवरकी यात्रामें मार्गमें चम्पाका वन पड़ता है। चम्पाके पुष्पोंकी मीलोंतक व्यापक सुगन्ध यात्रीको मूर्छित कर देती है और यदि वहाँ गिर पड़े तो सँभाले कौन। उस सुगन्धसे रक्षाकी व्यवस्था करके ही यात्री मार्ग पार कर पाता है।

'यहाँ पता नहीं कैसी गन्ध आ रही है !' आज प्रातः मैंने एक साथीसे कहा था। मुझे सम्भवतः दूसरोंकी अपेक्षा गन्धकी कुछ अधिक प्रतीति होती है।

'मुझे तो सर्दी हुई है !' साथीने कोई जिज्ञासाका भाव प्रकट नहीं किया।

'सुना है जो लोग सुगन्धसे दुर्गन्ध और दुर्गन्धसे सुगन्धमें बराबर जाते हैं, उनकी घ्राण-शक्ति नष्ट हो जाती है।' मेरा अभिप्राय साथीको चिढ़ाना ही था; पर मैं जानता था कि नाकके दूसरे रोगकी चर्चा दुःखद हो जायगी। उसे सुगन्धित तैल लगानेका व्यसन है और बराबर वह कहता है कि कार्यालयमें उसे ऐसे स्थानपर बैठना पड़ता है, जहाँ दुर्गन्ध आया करती है। पीछे ही नाली है। उसने मेरी बातपर ध्यान नहीं दिया उस समय।

'साधनविशेषसे घ्राणशक्ति जाग्रत् हो जाती है !' मैंने कहीं पढ़ा है। मैंने सुना है कि एक महात्मा केवल इच्छासे समीप बैठे लोगोंको चाहे-जैसी सुगन्धका अनुभव करा दिया करते थे।

'कोई दैवी या योगसिद्धि रही होगी।' मन तो एक विचारसे दूसरेपर जाता ही है। 'देवता गन्धग्राही होते हैं। वे सूँघकर ही तृप्ति प्राप्त करते हैं। हमारे लिए सुगन्ध व्यसन है और उनके लिए आहार।' मन सोचता रहा।

'ये पुष्प देवताकी तृप्तिका कारण बन सकते थे।' एक माला टँगी थी। 'अब तो इनमें दुर्गन्ध आयेगी।' पुष्प काले पड़ गये थे।

'सभी पुष्प सड़ते हैं, सभी सुगन्ध दुर्गन्धमें बदलती है!' बुद्धिने भी मनकी सहायता की।

'यह सुगन्ध! भगवान्‌के समीप धूप जलायी गयी दीखती है।' बड़ी सुन्दर सुगन्ध थी। मैंने दो-चार बार कसके श्वास खींचा। 'यह सुगन्ध भी प्रसाद है।'

'भगवान्‌की अम्लान वनमाला, उनके चरणोंपर समर्पित तुलसी-मञ्जरी, उनकी दिव्य गन्ध!' तुलसीकी गन्ध दिव्य ही तो होती है। तुलसी-काननमें जिन्हें बैठनेका अवसर मिला हो, वही उसे जान सकते हैं। 'कहीं वह भी चरणोंपर समर्पित नित्य नवलदलोंकी सुरभि हो … नासिकाके ऐसे भाग्य जगतीमें होते तो हैं ही।'

× × ×

'सब लोग सोचते होंगे, यह बड़े ध्यानसे सुन रहा है!' कुछ पढ़ा जा रहा था—कोई सुन्दर महत्त्वपूर्ण निबन्ध और मैं अपनी उधेड़-बुनमें लगा था। 'मन नहीं था यहाँ तो सुनायी क्या पड़े।' मन अपने-आप ही अपनी समालोचना कर रहा था।

'मन न रहनेसे केवल कर्ण ही नहीं—नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका—सब निष्क्रिय हो जाती हैं।' सुनना तो फिर भी मनको था नहीं। उसकी अपनी बात ही चलती रही—'मनकी रुचि ही इन सबके विषयोंको प्रिय या अप्रिय बनाती है और मनका संयोग न हो तो कोई इन्द्रिय काम ही नहीं करती।'

'जब सुननेमें नहीं लगना है, तब जो चाहे सो सोचो!'—मैं चाहता था कि जो कुछ पढ़ा जा रहा है, उसे समझूँ; पर मन जो नहीं मानता। तब मनको ही देखें कि वह करता क्या है।

'मन तो कुछ नहीं सोचता। श्वास भी कदाचित् बंद होना चाहता है। सचमुच श्वास-रोध-जैसा थोड़ा कष्ट ज्ञात हुआ। प्रयत्नपूर्वक दो-तीन बार श्वास लेना पड़ा। 'तब मन भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता।'

'शरीरमें जो चेतन तत्त्व है, मनमें स्थित होकर, मनमें द्वारा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध करके वह बाह्य भोगोंमें प्रवृत्त होता है।' यह बात अनेक बार सुनी है, अनेक बार पढ़ी है। आज जैसे उसमें एक अद्भुत प्रकाश आ गया है। उसका भाव जैसे स्वयं जाग्रत् हुआ है।

'स्वप्नमें स्वर्गमें, नरकमें और जाग्रत् दशामें भी मन इन्द्रियोंसे सम्बन्धित होकर तभी भोग उपस्थित करता है, जब चेतन उसमें स्थित होता है।' जाग्रत् दशामें शरीर भोगोंका भोक्ता होता तो निद्रामें और मरनेपर शरीर तो रहता ही है।

'शरीर तो भोगता नहीं और भोग सब शरीर-जैसे ही स्थूल हैं।' मुझे विज्ञानका एक नियम स्मरण आ रहा

है—संयोग सर्वथा विषम पदार्थोंका नहीं होता। संयोगके लिए उनमें किसी अंशमें साम्य अपेक्षित है। 'पदार्थोंमें और मनमें क्या समता ?'

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।'

'नीला चश्मा लगाया और सब दृश्य नीला हो गया! जड़ मनने समस्त आनन्दको जड़से प्राप्त भोग कह दिया!' कदाचित् यह बुद्धिका विश्लेषण था। 'जड़का कोई सम्बन्ध चेतनसे हो तो अन्तश्चेतन उस सम्वन्धसे चेतनको प्राप्त करे! जड़का सम्बन्ध तो जड़में ही जन्म-मरणका चक्र चलाता रहेगा।'

'जड़में चेतनका सम्बन्ध क्या हो।' बुद्धि ठीक ही पूछती है।

'सब कहीं भगवान् हैं। सब भगवान् हैं। सब भगवान्के स्वरूप हैं!' पढ़ना समाप्त हो गया था लेखका और उसका स्पष्टीकरण चल रहा था। 'प्रत्येक शब्द प्रभुका नाम है। उनका गुणगान है। स्तुति है। प्रत्येक रूप भगवान्का दर्शन है। प्रत्येक स्पर्श भगवान्का मङ्गल स्पर्श है। प्रत्येक रसमें उसी रसरूपका रस है। प्रत्येक गन्ध भगवान्के श्रीअङ्गकी दिव्य गन्ध है। हमारा मन निरन्तर भगवान्में रहे, भगवान्का चिन्तन करे तो हमारी सम्पूर्ण क्रिया भगवान्की पूजा हो जायगी।' वे कहते जा रहे थे।

सुन लेता हूँ, अच्छी लगती हैं ये बातें—यदि जीवनमें आ पातीं.............!

ज्ञाननेत्र

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१०।।

'अंगुष्ठ-परिमाण दीप-कलिकाके समान ज्योतिर्मय सूक्ष्म शरीर जब इस स्थूल देहको छोड़ देता है, लोग कहते हैं—मनुष्य मृत हो गया।' कानोंकी विशाल हस्तिदन्त मुद्राएँ भस्मभूषित कपोलोंका स्पर्श करके बार-बार हिल रही थीं। व्याघ्रचर्मपर जैसे तेजोराशि भगवान् कैलाशपति स्वयं इस एकान्त शान्त वनकी शोभापर मुग्ध होकर आ विराजे हों।

'अपने शरीरमें ही जिसने उसका साक्षात् करके ज्योति-केन्द्रमें प्रवेश कर लिया है, वही अमर पुरुष हो गया है। आनन्द अखण्डरूपसे उसका स्वरूप बन गया।'

'धारणा तबतक स्पष्ट नहीं होती, जबतक ध्येयका साक्षात् कम-से-कम एक बार न कर लिया जाय!' भर्तृहरिने गुरुदेवके अरुण चरणोंमें मस्तक झुकाया।

'हरि! तुम्हारी भावना पवित्र है!' बाबा गोरखनाथ स्नेहवश उन्हें इसी अल्प नामसे सम्बोधन करते हैं। 'पर तुम्हारे गुरुभाईकी योगमें आस्था ही नहीं। पुत्रकी मृत्युसे कृत्रिम वैराग्यवश यह आग्रहपर उतरा और मैंने भी पहली बार मूढ़ दुराग्रहसे विवश

होकर दीक्षा दी। शक्तिपातके क्षणमें जो जागरणकी अन्तःक्रिया हुई, साधनाने उसे ऊर्ध्वोत्थित नहीं किया। भ्रूमध्यके द्विदलके भेदनसे पूर्व जीवको साक्षात्कार कैसे हो सकता है।'

'आपकी कृपासे तो असम्भव भी सम्भव होता है।' भैरवनाथने अत्यन्त नम्रतासे प्रार्थना की। गुरुदेवने योगकी जो गम्भीर बातें सुनायी थीं, वे उनकी समझमें तो आयीं नहीं। योगके अटपटे आसनों और जिह्वानालके छेदनमें उनकी रुचि भी नहीं। वे तो गुरुके ऊपर भरोसा करके बैठ गये हैं। उनके समर्थ गुरु सब कर सकते हैं। उनके कल्याणकी चिन्ता उनकी अपेक्षा गुरुदेवको अधिक है।

'प्रत्येक क्रिया अधिकारकी अपेक्षा करती है।' पता नहीं क्यों आज बाबा गोरखनाथ कुछ अधिक प्रसन्न नहीं जान पड़ते थे।

'जैसी आपकी इच्छा!' यदि भैरवनाथसे भर्तृहरिने प्रातः जीव तथा उसके स्वरूपके सम्बन्धमें वह लंबा उपदेश न बताया होता तो वे कहाँ स्वयं पूछने चले थे। उन्हें इस झोपड़ीकी परिचर्यासे अवकाश कहाँ। आज छः महीनेकी आश्रम-सेवाके पश्चात् तो गुरुदेव पधारे थे उस सेवाको सार्थक करने।

'तुम दोनों मेरे साथ आओ।' बाबाने झट चिमटा उठा लिया। खड़ाऊँ पैरोंमें आयी। वे तो जैसे दौड़ते हुए चलते हों। जब इस प्रकार वे किसी कार्यमें प्रवृत्त हों, कोई बीचमें कुछ बोलनेका साहस नहीं कर सकता। कोई

कुछ पूछे तो एक मीठी फटकार मिलेगी—'थोड़ी देर प्रतीक्षाकी स्थिरता होनी चाहिये सत्यके साधकमें।'

'यहाँ बैठो और शीघ्रता करो मनको संयमित करनेके लिए।' झाड़ियोंको हटाते, ऊँचे-नीचे पत्थरोंपर पैर रखते वे एक छोटे नालेके समीप जा खड़े हुए। एक जंगली मनुष्य भूमिपर मूर्छित पड़ा था। मुखसे फेन निकल आया था। नेत्र ऊपर चढ़ चुके थे। शरीर विवर्ण हो गया था। 'दो क्षण पक्षी इस पिंजड़ेमें और है।' एकटक वे उसीकी ओर देख रहे थे।

'गुरुदेव!' भैरवनाथके स्वरमें करुणा आयी। 'बेचारा मनुष्य—पता नहीं कौन-कौन घरमें उसकी प्रतीक्षा करते होंगे, कितने लोग दुखी होंगे उसके न रहनेसे। केवल एक चिटकी भस्म यदि गुरुदेव उसपर डाल दें, यदि भर्तृहरिको औषधि देनेका ही आदेश दे दें।'

'तुम चाहते हो कि वह इस चिथड़ेमें जीवनको लथेड़नेके लिए फिर उठे और बार-बार इसी प्रकार शिलाजीतके अन्वेषणमें पर्वतसे लुढ़कता रहे।' भैरवनाथने उसके कमरके चारों ओर लिपटा मैला जीर्ण-शीर्ण चिथड़ा देखा। यही उसका वस्त्र था। उसका यह कंकाल शरीर भी चिथड़ा ही है, यह वे नहीं समझ सके। 'वह जा रहा है! आसन लगाओ!'

'यह तो अब कहीं जा नहीं सकता।' आज्ञापालनके लिए आसन लगा लिया भैरवनाथने, पर वे क्या ध्यान कर सकेंगे। 'आप जब सम्मुख खड़े हों तो नेत्र कौन बंद

करे।' जिस विग्रहका उन्हें ध्यान अच्छा लगता है, वह तो प्रत्यक्ष है। भर्तृहरि पहले ही आसन सम्हाल चुके थे। उनके अर्धमुकुलित नेत्र मूर्छित व्यक्तिके मुखपर स्थिर थे।

'वह चला गया। नेत्रके मार्गसे निकलनेवाला अधोगति तो नहीं पायेगा, पर गया लौटनेके लिए ही।' भर्तृहरिने तनिक देरमें ही धीरे-धीरे आसन छोड़ा और उठ खड़े हुए।

'हाँ, यह मर तो गया।' भैरवनाथने शवका स्पर्श करके निश्चय किया। 'गुरुदेव इसे पुनः जीवन देनेके पक्षमें नहीं।' उन्होंने सोचा कि ध्यानस्थ होनेसे भर्तृहरिने गुरुकी बात सुनी नहीं। इसीसे वे इसे फिर लौटानेकी बात कहते हैं।

'यहाँसे अधिक सुखमें गया है यह।' भर्तृहरिने धीरेसे गुरुका समर्थन किया।

'हाँ, प्राण निकल गया।' जब शरीर मृत हो गया तो उसमें-से कुछ-न-कुछ तो निकल ही गया, पर क्या निकल गया? भैरवनाथ कैसे बतायें उसे। गुरुदेव आश्रमकी ओर चल पड़े। अच्छा ही हुआ—इतने दिनोंपर पधारनेके पश्चात् इतनी शीघ्रतासे जब उन्होंने आश्रम छोड़कर यात्रा की थी तो बहुत अखरा भैरवनाथको। उन्हें अभी सेवाका सौभाग्य मिलेगा। इस 'क्या निकल गया?' से सेवामें अधिक रुचि है उनकी।

(२)

'प्राण—जो नित्य अजपा जाप स्वतः श्वाससे चल रहा है, उसका जपनेवाला ही प्राण है।' भैरवनाथ

गुरुदेवके विश्रामके पश्चात् भर्तृहरिके समीप आ बैठे थे। भर्तृहरिने उन्हें प्राणका तत्त्व समझाया। 'प्राणका जो प्रेरक है, वही जीव है।'

'प्राणायामके समय श्वास नहीं चलता, पर जीवन फिर भी रहता है।' परमयोगीका शिष्य प्राणायामसे अपरिचित कैसे रहता। भैरवनाथ प्राणायाम करते हैं—खूब देरतक कुम्भक कर लेते हैं। सचमुच यदि श्वाससे भिन्न जीव न हो तो कुम्भकके परिपाकमें तो श्वास रहता नहीं।

'उस ज्योतिर्मय चेतनका निवास हृदय-गुहामें है।' भर्तृहरिने बातको और स्पष्ट किया। 'ध्यानके द्वारा हृदय-कमलके विकसित होनेपर उसका दर्शन होता है। योगकी सिद्धि उसीके साक्षात्कारसे पूर्ण होती है।'

'आप विश्राम करें।' भैरवनाथने उदासीनतासे कहा। अब उसे एकान्तकी आवश्यकता थी। अपने आसनपर जाकर ही वह पूरी बातें सोचेगा।

'हृदय-कमलपर तो श्रीगुरुदेव विराजमान हैं।' गुरु-आज्ञा मानकर उसने निरन्तर अजपा जपका अभ्यास किया। प्राणायाम यदि आदेशके कारण न करना पड़ता तो उसकी अपेक्षा दंड-बैठक उसे अधिक प्रिय है। वह जातिसे अहीर जो ठहरा। उसे न आकाशमें उड़नेकी इच्छा है और न हाथ-पैर लंबे या छोटे करनेकी। प्रेतसिद्धिके चमत्कार वह घरपर देख चुका है। ऐसे चमत्कारोंमें भी उसका आकर्षण नहीं। भरपेट दूध पीना, भैंसोंको चराना, गोबर फेंकना, घरके दूसरे काम करना

और प्रातः-सायं दंड-बैठकके पश्चात् पिताकी सेवा करना बचपनसे उसने सीखा। पिता रहे नहीं, इकलौता पुत्र यमराजने उठा लिया। वह गुरुदेवकी शरणमें आया। यहाँ अब गुरुदेवकी, संतोंकी सेवा, आश्रमके कार्य और व्यायामके बदले प्राणायामका अभ्यास हो गया। योग किसलिए सीखे वह।

'आत्मज्ञानके बिना उद्धार नहीं होता!' यह उससे बार-बार कहा गया है। आत्मा और जीवमें उसे कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, पर जीव है क्या? प्रातःसे आज वह इसी उलझनमें है। जब गुरुदेवने दीक्षा दी, पता नहीं क्या हुआ। उसका शरीर उस समय झनझना उठा था। कई दिनोंसे रीढ़में कुछ चींटियाँ-सी चलती हैं। आज वह ध्यान करनेका प्रयत्न कर रहा था। 'हृदयकमल तो खिला ही है!' ऐसे श्रद्धालुओंको कमलोत्थान और जागरणकी अपेक्षा नहीं होती। भाव ही उसके हृदयको नित्य उद्बुद्ध रखता है। उसने हृदयमें तेजोमयी गुरुमूर्तिके दर्शन किये।

'मेरा जी सदा गुरुके चरणोंमें लगा रहता है!' वह सोचने लगा। 'अवश्य इन चरणोंमें ही कहीं मेरी आत्मा लगी होगी!'

'ज्योतिर्मय अंगुष्ठ-परिमाण आत्मा!' वह हृदयमें प्रकट उन चरणोंको ध्यानसे देख रहा था। चरण ज्योतिर्मय हैं। उनका अंगुष्ठ--पर वहाँ और कोई दूसरी अंगुष्ठ-जितनी बड़ी वस्तु तो नहीं है! एक-एक पाद-तलकी रेखाएँ स्पष्ट हो गयीं। वह भूल ही गया कि उसे आत्माको ढूँढ़ना है। ध्यान करता रहा चरणोंका।

'हरि ! तुम्हें अपने गुरुबन्धुके लिए चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं।' ब्राह्ममुहूर्तमें भर्तृहरिने गुरुदेवके चरणोंमें अभिवादन किया था। सचमुच आज रात्रिमें उनके मनमें अनेक बार भैरवनाथकी बात आयी। कितना सरल, सेवापरायण, बालचित्त है वह। उसका हृदय आवरणहीन क्यों नहीं होता ?

'आज वह अबतक उठा नहीं है !' ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि भैरवनाथ इतनी देरतक आसनपर रहे। वह तो नित्य इस समयतक आश्रम स्वच्छ करनेमें लग जाया करता था।

'तुम्हारा उपदेश सार्थक हुआ !' गुरुदेवके मुखपर रहस्यमय स्मित आया।

'आपके श्रीचरणोंकी सेवा सार्थक तो होगी ही; किंतु भैरवके सम्बन्धमें प्रभुको विशेष द्रवित होना है !' गुरुकी प्रसन्नताने प्रार्थनाको अवकाश दिया।

'वह अज्ञानी नहीं है !' भर्तृहरि चौंके। उनके सर्वज्ञ गुरु कभी अनर्गल बात नहीं कहेंगे। 'अज्ञान अश्रद्धासे होता है। उसकी मुझमें श्रद्धा है !'

'वह आत्माकी सत्ता भी समझ नहीं पाता !' भर्तृहरिने शंका की।

'घोर अज्ञानी ही सत्तामें सन्देह करते हैं ! शरीर ही सब कुछ नहीं है, जो इतना समझकर कहीं श्रद्धा करेगा, वह उस सत्ताका साक्षात्कार अवश्य पा लेगा।' योगीन्द्र बाबा गोरखनाथ आज भावका महत्त्व समझा रहे थे। 'श्रद्धा अज्ञानके आवरणमें बँधी नहीं रह

सकती। जब वह उन्मुक्त होती है, दूसरे आवरण स्वतः नष्ट हो जाते हैं!'

'भैरव...।'

'उसे देखोगे?' बात पूरी होनेसे पूर्व ही गुरुदेवने भर्तृहरिको साथ लिया और आसनसे उठे।

'ज्योति—निर्मल, घनानन्द ज्योतिमात्र!' भैरवनाथने नेत्र बंद कर रक्खे थे। सम्भवतः वे रात्रिभर बैठे ही रहे हैं। सहसा मस्तकपर स्पर्श हुआ और नेत्र खुले। अन्तरकी ज्योति जैसे बाहर घनीभूत खड़ी हो।

'इन नखोंकी ज्योति ही सबमें–सब हृदयोंमें और पदार्थोंमें भी फैली है! व्यर्थ ही आपने आत्मा, जीव आदि नाम रखकर मुझे उलझा दिया।' गुरुचरणोंसे उठकर भर्तृहरिको उलाहना दिया उन्होंने। ठीक उसी प्रकार जैसे छोटा भाई बड़े भाईको देता है।

'यदि तू उसे उपभोक्ता न बना दे, सिद्ध हो गया।' गुरुदेवने आशीर्वाद दिया या नहीं, कौन जाने।

(३)

'बाबा भैरवनाथ शक्तिपात करते हैं! दीक्षा ली और आत्मज्योतिके दर्शन हुए! ऐसे समर्थ गुरुकी कृपा बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होती है!' लोगोंमें किसी बातको बढ़ा-चढ़ाकर कहनेका सहज स्वभाव है। बाबा भैरवनाथकी व्यापक ख्यातिमें इस स्वभावका भी हाथ तो है ही।

'क्या रक्खा है इन साधनोंमें! गुरुकी शरण लो! तत्काल चमत्कार देखोगे। मोक्ष तो वे भस्मकी चिटकीके

साथ प्रसादमें बाँटते हैं।' ये शिष्यवर्ग यदि अपने गुरुदेवका गुण-गान करते हैं तो अपराध कौन-सा करते हैं। 'जाको खाइय, वाको गाइय।' अन्ततः गुरुदेवके मठमें माल घुटनेके साधन भी तो एकत्र होने चाहिये।

'वे महामूर्ख हैं जो कहते हैं कि आत्मा नहीं होता!' बाबाजी स्वयं प्रत्यक्ष जो वस्तु दिखला सकते हैं, उसमें भी कोई अश्रद्धा करे तो उससे बड़ा मूर्ख होगा कौन। जिसे विश्वास न हो, वह दीक्षा लेकर देख ले। यहाँ तो खुला दरबार है।

कोई भी बात फैलती है तो उसके मूलमें कुछ तथ्य होता ही है। बाबा भैरवनाथ दीक्षा देते समय शिष्यकी दोनों भौंहोंके मध्यका भाग अपने दाहिने हाथकी मध्यमा अंगुलीसे स्पर्श कर देते हैं। दीक्षा लेनेवाला नेत्र बंद किये होता है। जैसे एक प्रदीप भ्रूमध्यमें प्रकाशित हो गया हो। अब वह प्रकाश किसीको सदा न दिखायी दे तो गुरुदेव क्या करें। उसमें श्रद्धा, विश्वास, गुरुसेवाका अभाव होगा तो प्रकाश स्थायी कैसे रहेगा।

लोक तो 'चमत्कारको नमस्कार' करता है। आश्रमकी झोंपड़ियाँ विदा हो गयीं। उनका स्थान विशाल भवनने लिया। शिष्योंकी पूजाके लिए मन्दिर बना। त्रिशूल स्थापित हुआ। बाबा गोरखनाथकी चरण-पादुका पूजित होने लगीं! योग्य शिष्य ही तो गुरुका गौरव उज्ज्वल करता है।

किसी-किसीको दूसरोंकी उन्नति असह्य हुआ करती है। बाबा भैरवनाथ तो सरलताकी मूर्ति हैं, वे तो कुछ बोलते नहीं, पर उनके शिष्योंसे कैसे सहा जाय। यह

भर्तृहरि बाबाके बड़े गुरुभाई हुए तो क्या, उन्हें इसका बड़ा घमण्ड है कि वे पहले राजा थे। भला साधुमें बड़ा-छोटा क्या ; पर उनसे तो बाबाकी यह कीर्ति और ऐश्वर्य देखा नहीं जाता।

'भैरव, गुरुदेवने तुम्हें सिद्ध होनेका आशीर्वाद दिया !' आज सबके सामने ही भर्तृहरिने बाबा भैरवनाथसे कहा था। 'तुमने आत्मसिद्धिके बदले लोकसिद्धि ले ली ! यह भवन, ये पदार्थ, इनका संग्रह किसके लिए है ? तुम कभी सोचते भी हो ?'

'जैसे सोचनेका ठेका इन्होंने लिया है। तीन महीना भी नहीं बीतता और आ धमकते हैं। यह स्थान न हो तो मालपुए कहाँ मिलें !' शिष्योंको बात बहुत कड़ी लगी थी। भैरवनाथजीने कुछ कहा तो नहीं, पर उनके नेत्रोंने बहुत कुछ कह दिया।

'पदार्थोंका भोक्ता बनकर ही जीव शरीरमें आसक्त हुआ। पदार्थोंसे तृप्तिकी भावना ही करनी है उसे। पदार्थका उपयोग तो उसे प्राप्त नहीं होता। साधुके एकाग्र हृदयमें क्या कम आनन्द या तृप्ति है जो संग्रह करे और असन्तोष मोल ले !' भर्तृहरिको गुरुभाईसे सहज स्नेह है। वे मठसे विदा होनेसे पूर्व एक बार फिर सावधान करना चाहते हैं। 'पदार्थोंका उपयोग शरीरके लिए है, पर शरीर उनका कोई सुख-दुःख नहीं पाता। मृत शरीरके लिए सभी भोग समान हैं !'

'आप मुझे शाप देना चाहते हैं !' व्यक्तिके सहनकी सीमा होती है। भैरवनाथ अपने शिष्यों और सेवकोंके

सम्मुख कहाँतक अपमान सहें। 'भर्तृहरि यह मृत्युकी क्या बात कहने लगे। वे इतने बढ़ गये कि मरनेका शाप दें!' स्वर कठोर हुआ।

'तुम स्वयंको अभिशप्त कर रहे हो।' भर्तृहरिने रोषका कोई लक्षण नहीं प्रकट किया।

'आप यहाँसे पधारें।' शिष्योंमें एकने लगभग चिल्लाकर कहा। वह साधुकी अपेक्षा मल्ल (पहलवान) अधिक प्रतीत होता है। पूरी उत्तेजनामें है और उसके समीप ही कुछ और वैसे ही युवक साधुवेषमें रुष्ट-से खड़े हैं। 'आप तो राजसदनको ठुकराकर साधु हुए हैं; फिर इस भवनमें क्यों रहें। वनसे आपका यहाँ आना ही आश्चर्यजनक है।' व्यंग भरपूर तीक्ष्ण हो गया था।

'तुम जो देख रहे हो, यह तुम्हारा स्नेह नहीं; इस ऐश्वर्यका अनुराग है।' जैसे वहाँ कोई दूसरा है ही नहीं। भर्तृहरिने किसीकी ओर देखातक नहीं। 'अब भी कुशल है, उत्तराधिकारियोंमें छीननेकी भावना हो, इससे पूर्व ही उन्हें यह सब दे दो और मेरे साथ आओ।'

'जैसे गुरु गोरखनाथ यही हैं।' शिष्यवर्ग उत्तेजित होता रहा।

'मैं विचार करूँगा।' भैरवनाथ किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाना चाहते थे।

'विचार करो, पर विचारको कुण्ठित मत करो।' भर्तृहरिने मस्तक झुकाया। उन्होंने नहीं देखा कि किस प्रकारकी विचित्र भङ्गिमासे लोगोंने अपने मुख विकृत कर लिये हैं। वे द्वारसे बाहर जा रहे थे—दूर, वनकी ओर।

(४)

'गुरुदेव, आपने कहा था कि भैरव मूर्ख नहीं रहेगा।' भर्तृहरिने अन्ततः गुरुदेवके दर्शन प्राप्त किये। उनके सर्वज्ञ गुरु व्याकुल स्मरणकी उपेक्षा कहाँ कर पाते हैं। 'जो भोगोंको ही लक्ष्य मान ले, वह मूर्ख ही तो है।'

'यह भी संस्कार है।' जैसे बाबा गोरखनाथका भैरवनाथसे कोई सम्बन्ध हो ही नहीं। 'इस समय रजोगुण उसमें प्रबल हो गया है।'

'लोग कहते हैं कि आप चमत्कारोंके महापुरुष हैं। भर्तृहरिने प्रार्थना की गुरुबन्धुके लिए 'संस्कारोंसे आपकी कृपाके चमत्कार कहीं शक्तिशाली हैं प्रभु।'

'जबतक हृदय शुभ कर्मोंमें लग न जाय, शान्तिका मार्ग खुलता नहीं।' बाबाने उसी तटस्थतासे बताया। 'अभी तो वह रजोगुणसे तमोगुणकी ओर जा रहा है। रोष, विवाद और आलस्य—यही उसके उपास्य हो गये हैं।'

'प्रभुने दीक्षा दी है और उसने श्रीचरणोंकी सेवा कम नहीं की है।' स्वर जैसे दया एवं दीनताके भारसे मन्द हो रहा हो।

'अग्निकी चिनगारी महाज्वाला तो बनेगी ही। ईंधनका भार उसे दबा सकता है, बुझा नहीं सकता।' वाणीमें आश्वासन था। 'केवल संवत्सरका एक चक्कर अभी और पूरा होगा।' उन त्रिकालदर्शीने अवधि निर्धारित कर दी।

'बाबा भैरवनाथ महाराज बड़े भारी महात्मा हैं। उनकी धूनीपर चिलम कभी ठंडी नहीं होती। भर्तृहरिजीको गुरुभाईके समाचार मिल जाया करते हैं जंगलियोंसे। इन समाचारोंने उन्हें कुछ उद्विग्न कर दिया। गुरुदेवने प्रार्थना सुन ली। एक वर्ष कोई बड़ी अवधि नहीं है।

'मठपर डाका पड़ा था। डाकुओंने सब लूट लिया। आजकल इतना अधर्म हो गया कि लोग साधु-संतोंके स्थानको भी छोड़ते नहीं।' उस दिन वह जंगली लकड़हारा बड़े दुःखसे सुना गया।

'महाराजसे भला कोई बात छिपी रह सकती है। डाकुओंको उन्होंने अपने शिष्योंसे ही पकड़ मँगवाया। मठमें इतनी मार पड़ी कि कईने रक्त उगल दिया। सब सामग्री मिल गयी। अब राज्य जो दण्ड देगा वह ऊपरसे। ऐसे दुष्टोंको तो कुत्तोंसे नोचवा देना चाहिये।' उस वन्यपुरुषमें साधुओंके प्रति बड़ी श्रद्धा है। उसकी श्रद्धाने डाकुओंके कष्टका विचार करने ही नहीं दिया।

'किसीने बाबा भैरवनाथको भोजनमें विष दे दिया। चिकित्सा चल रही है।' इस समाचारसे इच्छा हुई जाकर देखनेकी, परन्तु गुरुने तो आनेपर भी न बोलनेका आदेश दे दिया है।

'मठको तो चिकित्सालय बना दिया गया।' फिर समाचार मिला। 'सब सम्पत्ति दे दी गयी।'

'अपने रोगने दूसरे रोगियोंके कष्टोंका ध्यान दिलाया।' भर्तृहरि मन-ही-मन सोच रहे थे।

'चिकित्सालय उसी साधुके संरक्षणमें रहेगा, जिसने विष दिया था।' आज वह जंगली पुरुष बहुत उदास है। उसने सुना है कि बाबा भैरवनाथको उनके ही किसी शिष्यने विष दे दिया था। बाबाजीने उसे कोई दण्ड न दिया और न किसीको देने दिया। उलटे उसे सम्मानित किया उन्होंने। 'वह तो चाहता ही था कि मठकी गद्दी उसे मिले।'

'अब सत्त्वगुण जाग्रत् हुआ है।' भर्तृहरि मन-ही-मन गणित कर रहे थे। गुरुदेवके बताये हुए वर्षमें पूरे नौ महीने बीत चुके।

'मुझे क्षमा नहीं मिलेगी?' जैसे कोई वर्षोंका रुग्ण हो। कहाँ गया वह पुष्ट भव्य शरीर। हड्डियोंके ऊपर स्नायु लपेटकर चमड़ेसे ढकी एक आकृतिमात्र रह गयी। मांसका नाम नहीं। नेत्र गड्ढेमें चले गये। उनके चारों ओर घनी कालिमा फैल गयी। शरीर पीला हो गया। भर्तृहरिको दया आयी। गुरुबन्धु इस अवस्थामें सम्मुख खड़ा नेत्रोंसे धाराएँ बहा रहा है और वे उसकी ओर देखतेतक नहीं।

'मैं अधम हूँ। सचमुच ही आप मुझसे बोलें, इस योग्य नहीं हूँ। यहाँ आकर अपने अपवित्र स्पर्शसे इस पुण्याश्रमको दूषित किया है मैंने।' भूमिमें मस्तक रखकर वह फिर उठा—'केवल एक प्रार्थना है, गुरुदेव कभी पधारें तो उनकी तनिक-सी चरण-रज किसीके द्वारा सरिताके उस तटपर इस कंगालके लिए भेज देंगे। प्राण न भी रहा तो अस्थियाँ उसकी प्रतीक्षा करेंगी।'

'गुरुदेव ! गुरुदेव !' भर्तृहरिकी वाणी नहीं, परन्तु उनका हृदय हाहाकार कर रहा था। उनका गुरुबन्धु लौट रहा है। उन्हें इतना कठोर आदेश पालन करना है कि बोलतक नहीं सकते। 'गुरुदेव !'

'भैरव !' जैसे कानोंमें अमृत पड़ा हो।

'गुरुदेव !' दोनों चौंके, दोनों दौड़े और आज बाबा गोरखनाथके चरणोंपर भर्तृहरि और भैरवनाथ एक साथ पड़े थे—समान, बिना भेदके।

'मेरे बच्चे !' बाबाने पहले भैरवनाथके मस्तकपर हाथ फेरा 'तू मूर्ख नहीं है। देख तो कौन गुणोंमें लिप्त होकर उनका उपभोग करता है और फलतः गुणोंमें स्थित होकर बार-बार आता-जाता है संसारमें।'

'प्रकाश—दिव्य प्रकाश ! श्रीगुरुमूर्तिका वही अणु-अणुमें व्याप्त दिव्य तेज !' जब बाबा गोरखनाथ कह रहे हैं तो भैरवनाथ अज्ञानी—मूर्ख कैसे रह सकते हैं। उनके ज्ञाननेत्र आज आवरणहीन हैं। अब कुछ उनके लिए रहस्य कैसे रह सकता है।

प्रयत्नकी सफलता

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

आज उन अवधूतजीके समीप भीड़ नहीं थी। सम्भवतः ग्रीष्म ऋतुके मध्याह्नमें यहाँ शान्ति रहती है। प्रातःकाल लोग वैसे भी गङ्गा-स्नान करने जब आते हैं, तब संतकी वन्दना करके उनके पास कुछ देर बैठ जाते हैं। सायंकाल भी कुछ जिज्ञासु एकत्र ही होते हैं। इस प्रचण्ड गर्मीमें जब कि घरोंके भीतर भी शरीरसे पसीनेकी धारा चलती है, कौन लूमें बस्तीसे एक मील दूर यहाँ आवे।

अवधूतका क्या नाम और क्या पता-ठिकाना। भगवती भागीरथीके किनारे पता नहीं कितने आत्माराम वीतराग संत इस प्रकार घूमते ही रहते हैं। यहाँ पलाश वृक्षोंका एक छोटा-सा वन है। कुछ नाले हैं और ठीक तटपर विशाल वट वृक्ष है। स्थानकी एकान्त रमणीयता सहज ही ऐसे परिव्राजकोंका चित्त आकर्षित कर लेती है। गङ्गाजीके तटके सहारे घूमनेवाले संत जब इधरसे निकलते हैं, प्रायः दो-एक दिनके लिए रुक जाते हैं। पासकी बस्तीमें पर्याप्त श्रद्धालु हैं। कई मील दूरके ग्रामोंसे भी कुछ लोग नित्य गङ्गा-स्नान करने आते हैं। उस दिन प्रातः जब स्नानार्थियोंने वट वृक्षके नीचे भूमिमें आधे लेटे एक गौरवर्ण, कौपीनधारी, ऊँचे, स्थूलकाय तेजस्वी

साधुको देखा ; कोई आश्चर्य होना था ही नहीं। अवश्य ही ये महात्मा तटके सहारे घूमते हुए रात्रिमें ही यहाँ पहुँचे होंगे। लोगोंने प्रणाम किया, कुछ लोग वहीं भूमिपर बैठ गये। संतके समीप तो संसारकी चर्चा होगी नहीं। वहाँ तो ज्ञान, वैराग्य, धर्म और भगवान्‌की चर्चा ही होनी है।

अवधूतजी नित्य प्रसन्न रहते हैं। यद्यपि वे बहुत कम बोलते हैं; परन्तु उनके समझानेका ढंग ऐसा अद्भुत है कि अपने थोड़े शब्दोंमें ही वे पूछनेवालेके जटिल-से-जटिल प्रश्नका समाधान कर देते हैं। श्रद्धालुजनोंका आग्रह है कि महाराज कुछ दिन यहीं निवास करें। यही क्या कम है कि आज सात दिनसे वे यहाँ हैं। झोपड़ी लगा देनेका लोगोंका आग्रह उन्होंने स्वीकार किया नहीं। ग्राममें जाकर भिक्षा करते हैं और यहाँ तटपर आकर अन्नको धो डालते हैं गङ्गाजीके पावन जलमें। एक हँड़िया और एक वस्त्र-खण्ड भला ऐसे मस्त संतका क्या ठिकाना कि कब उठकर किस ओर चल दें।

बड़ी इच्छा है कि महात्माजीसे एकान्तमें अपनी बात कही जाय, लेकिन एकान्त मिले तब न। बात कोई ऐसी नहीं, पर एक तो सहज संकोच और दूसरे लोग अवकाश ही नहीं देते। कोई-न-कोई कुछ-न-कुछ पूछता ही रहता है। दूसरोंकी बातोंमें अपनी टाँग अड़ा सके, इतना धृष्ट वह नहीं है। पण्डित रमाकान्तजी विद्वान् हैं, पड़ोसी हैं और महात्माजीसे अधिक निकट भी हो गये हैं। पण्डितजी तो किसी संतके आनेपर उनसे सहज सामीप्य प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन वह ऐसा निःसंकोच कहाँ हो पाता है। आज

उसने पण्डितजीसे अपनी बात कही है। 'एकान्त तो दोपहरीमें ही मिलेगा।' पण्डितजी ठीक ही कहते हैं। दोपहरीमें जानेकी बात वह स्वयं कई बार सोचकर रह गया। कहीं उस समय महात्माजी विश्राम करते हों तो उन्हें कष्ट होगा। लेकिन पण्डितजी भी ठीक ही कहते हैं कि 'संतके पास जानेमें क्या संकोच। वे विश्राम ही करते होंगे तो थोड़ी देर बैठे रहेंगे।' इतनेपर भी वह यदि पण्डितजी साथ न आते तो कदाचित् ही आनेका साहस कर पाता।

'अच्छा, तुम आ गये!' महात्माजीने तनिक मस्तक उठाया और धीरेसे बैठ गये। उनका स्वर कह रहा था, जैसे वे उसके आनेकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे।

दोनों बहुत धीरे-धीरे आये थे। दबे पैर वे वृक्षकी छायामें एक ओर बैठ जाना चाहते थे। महात्माजी सोये तो थे नहीं। सम्भवतः दोनोंको आते उन्होंने दूरसे ही देख लिया था। 'बड़ी धूपमें आये हो; तनिक विश्राम कर लो।' धूप और गर्मीका क्या पूछना। मुख लाल हो गये हैं। वस्त्र भीग गये हैं। यह लू भी पसीनेके कारण शीतल जान पड़ने लगी है। दोनों पास ही बैठ गये।

'तुम क्या करते हो?' महात्माजीने ही कुछ देरमें पूछा।

'मैं भला क्या करने योग्य हूँ। गङ्गाजीमें गोते लगा लेता हूँ। किसी प्रकार रामायणका कुछ पाठ कर लेता हूँ। अब तो आपके ही चरणोंका भरोसा है। मेरे-जैसा अपढ़ मूर्ख भी क्या किसी प्रकार इस संसारसे पार हो

सकता है ? मैंने रामायणमें पढ़ा है कि यह मनुष्य-जन्म बड़े भाग्यसे मिलता है। मरनेपर पता नहीं फिर किस कूकर-शूकरकी देह मिले। इस जन्ममें भी कुछ न हुआ। आज भी बिना पढ़ा-लिखा पशु ही हूँ। आप ही अब दया करें। मुझे तो आपको कृपाका ही भरोसा है। आपकी शरण आया हूँ मैं।' पण्डित रमाकान्तजोको स्वप्नमें भी ध्यान नहों था कि उनका पड़ोसी इतना भावुक है। वह फूट-फूटकर रो रहा था। संतके चरणोंमें मस्तक रखकर हिचकियाँ ले रहा था।

'तुम व्यर्थ ही दुखी होते हो। यह सांसारिक विद्या हुई तो, न हुई तो। संसारसे पार होनेके लिए तो दृढ़ इच्छा, प्रयत्न और श्रद्धा चाहिए। तुम्हारे समान भाव ही जन्म-जन्मके पुण्यसे किसीको प्राप्त होता है। तुम्हें भला कहीं संसार बाँध सकता है।' महात्माजीके कर उसके मस्तकपर घूमते रहे। पण्डित रमाकान्तजी भले महापुरुषकी वाणीमें अपने वेदान्तज्ञानका दर्शन करते रहें, पर वह तो उसे अमृतधाराके समान कानोंसे पीता तृप्त ही नहीं होता था।

'तुम रामायणका पाठ करते हो।' जब वह कुछ आश्वस्त हुआ, महात्माजीने बड़े स्नेहसे उसे समझाना प्रारम्भ किया। 'इस युगमें राम-नामसे बड़ा और कौन-सा साधन है। राम-नामके जप करनेवालेको संसार या मृत्युका क्या भय। भगवन्नाम ही तो समस्त साधनोंका सार और सभो साधनोंका परम साधन है। तुम उसमें मन लगाओ। नामका जप अखण्ड चलता रहे, सब काम करते समय, सब समय जिह्वासे, श्वाससे या मनसे

नामका जप निरन्तर चलता ही रहे, यही पूरा प्रयत्न करना है। मन सदा भगवान्‌के दिव्यगुण, भुवनमङ्गल रूप एवं परम पावन चरितोंका चिन्तन करता रहे और जिह्वासे उनके नामका जप होता रहे। जीवनमें यह आ जाय तो जीवन धन्य हो जाय। ऐसे नाम-जापकके सम्मुख मायाके बन्धनोंकी कोई सत्ता नहीं रह सकती। नाम तो स्वयं भगवान्‌का रूप है। जहाँ नाम है, वहीं साक्षात् प्रभु हैं। भला जहाँ सूर्य है, वहाँ क्या अन्धकार रह सकता है।'

उसे जैसे नवीन जीवन मिला। महात्माजीके चरणोंमें बड़ी कृतज्ञतासे मस्तक रक्खा उसने।

(२)

घरमें साध्वी स्त्री है और एक कन्या है। भाई अपना-अपना भाग लेकर अलग हो गये। उसे कोई असन्तोष नहीं। वह कम श्रम करता रहा हो किसीसे, ऐसी बात तो नहीं है; पर ब्राह्ममुहूर्तमें उठते ही घर और खेतकी उलझनमें पड़ना उसके वशमें नहीं है। जीवन इन्हीं झंझटोंमें व्यतीत करनेको तो है नहीं। मनुष्य-जीवन पाकर भी पेट भरनेके धंधेमें ही उसे बिता दिया तो हाथ क्या लगा? पेट तो कुत्ते भर लेते हैं। वह रात्रिका तीसरा प्रहर समाप्त होते-न-होते उठ जाता है। अब यदि आठ बजेसे पहले उसके नित्यकर्म समाप्त नहीं हो पाते तो उसका क्या दोष। वह गङ्गातटसे लौटकर सीधे काममें जुट जाता है। सच्ची बात है कि वह कम काम करता है, यह शिकायत किसीको नहीं है। वह जब जुटता है,

सिर उठानेका नाम ही नहीं लेता। दो आदमी दिनभरमें जितना काम बड़े श्रमसे कर सकते हैं, उसे वह सहज ही कर लेता है; लेकिन उसका गुम-सुम रहना—पता नहीं ओठोंमें क्या फुसफुसाता रहता है। कुछ पूछनेपर भी टालने-सा उत्तर देता है। भाइयोंको इसमें अपनी उपेक्षा, अपना अपमान लगने लगा। काममें देरसे आनेका बहाना बनाया गया बँटवारेके लिए। उसे तो भगवान्‌ने ही जैसे यह सुविधा दे दी। अब न कोई उलाहना देनेवाला है, न किसीके रुष्ट होनेकी आशंका है। दो गायें और ले ली हैं उसने और यदि संग्रहकी हाय-हाय मनमें न हो तो वे विश्वम्भर प्रभु क्या रोटी-वस्त्र नहीं देते।

'भाई! तुम्हारी पत्नी बहुत दुखी थी। तुम्हें हो क्या गया है? कोई बात हो तो तुमको मुझसे कहनेमें तो संकोच नहीं करना चाहिये!' पण्डित रमाकान्तजी स्वयं आज उसे समझाने आये हैं। उसकी साध्वी धर्मपत्नी क्या करे। घरमें अब और कोई तो रहा नहीं। उसे न तो कोई क्लेश है और न अभाव। उसके स्वामी कम श्रम या कम उपार्जन करते हैं, यह उसे सोचना ही नहीं है। जिसने अग्निकी साक्षीमें उसका हाथ पकड़ा है, वह उसके अन्न-वस्त्रकी चिन्ता कर लेगा और यदि भूखों ही रहना भाग्यमें हो तो पतिको खिलाकर भूखा रहनेमें भी उसे सुख है। उसका कष्ट तो दूसरा ही है। लोग कहते हैं कि उसके ये पतिदेव पागल होते जा रहे हैं। खेतमें काम करते-करते बैठ जायँगे हाथ रोककर; और फिर पुकारनेपर भी नहीं सुन सकेंगे। वह स्वयं देखती है कि वे प्रायः विचित्र ढंगसे बोलते हैं। कुछ अनमने-से रहते हैं। किसी बातमें जैसे

उनका उत्साह ही नहीं। भोजनमें नमक अधिक है या कम, इसका पता ही नहीं लगता उन्हें। घरपर भी कभी-कभी किसी ओर देखते हुए मूर्तिकी भाँति बैठे रह जाते हैं। दिन-रात पता नहीं क्या सोचते हैं। अभी कल रात ही सहसा फूट-फूटकर रोने लगे। वह तो घबड़ा ही गयी थी। फिर थोड़ी ही देरमें जो हँसने लगे तो हँसी ही नहीं रुकती थी। अवश्य उन्हें कुछ हो गया है। बेचारी सबेरे ही पण्डितजीके घर गयी। उनकी स्त्रीके पैर छूकर बहुत-बहुत रोयी। 'पण्डितजीकी ही ये कुछ सुनते हैं। पण्डितजी बड़े विद्वान् हैं। वे दया करें तो यह विपत्ति टल सकती है।' रमाकान्तजीकी पत्नीने पतिसे सब बातें बतायी हैं। अनुनय की है।

'पण्डितजी! मैं स्वयं आपके समीप आना चाहता था। कई दिनसे सोच रहा था; किंतु समय मिलता ही नहीं था।' कृषकके पास वैसे ही बहुत काम रहते हैं और उसपर नित्यकर्ममें उसे दोनों समय कई घंटे लग जाते हैं। इसी गर्मीमें लड़कीका विवाह निश्चित हो गया है। उसके लिए भी व्यस्त रहना ही पड़ता है।

'तुम्हें क्या हुआ है?' पण्डितजीने भी उसे कोई रोग है, यही समझा है। वे आयुर्वेदमें भी गति रखते हैं। रोग हो तो चिकित्साकी व्यवस्था करना बहुत कठिन नहीं जान पड़ता।

'मुझे हुआ तो कुछ नहीं है। आप पहले विराजें!' उसने कुछ हँसते हुए पण्डितजीके लिए चौकीपर कंबल बिछा दिया और समीप ही बैठ गया। 'मेरा मन अब

इस उलझनमें लगता नहीं है। इस वर्ष कन्याका विवाह करके उसे उसके घर भेज दूँ ; फिर एक बार तीर्थयात्रा कर आना चाहता हूँ। आपकी दयासे यहाँ कोई अभाव नहीं है। केवल आपको तनिक देखते रहना होगा और इसके लिए मैं आपके चरण पकड़कर प्रार्थना करता हूँ !' उसने दोनों पैर पकड़ लिये पण्डितजीके।

'लेकिन तुमको कोई रोग है ! तुम चाहे जब ज्यों-के-त्यों रह जाते हो। रातमें सहसा रोते और फिर हँसते रहे।' पण्डितजीको लगा कि उसकी यह प्रार्थना और पैर पकड़ना भी उन्मादका ही आवेश है।

'महात्माजीने मुझे राम-नाम जपनेको कहा था। पहले तो कुछ कठिनाई हुई ; लेकिन धीरे-धीरे मैंने अभ्यास कर लिया। कुछ दिनोंमें मुझे बड़ा आनन्द आने लगा। नाम-जप तो जैसे अपने आप ही चलने लग गया।' बड़े संकोचसे वह अपनी बात कह पा रहा था।

'अब कैसा प्रतीत होता है ?' पण्डित रमाकान्तजी विद्वान् हैं। शास्त्रोंका अध्ययन किया है उन्होंने। लेकिन उनका यह अपढ़ कृषक पड़ोसी—इसमें क्या ये उच्च आध्यात्मिक स्थितिके लक्षण आ गये हैं ? सन्दिग्ध हो रहे हैं वे।

'सहसा एक दिन जब प्रातःकाल स्नान करके बैठा था, जान पड़ा कि भीतर करोड़ों सूर्य साथ ही उदित हो गये हैं।' उसका रोम-रोम खड़ा हो गया। वाणी गद्गद होकर रुक गयी। नेत्रोंसे अश्रु बहने लगे। कुछ देरमें बड़ी कठिनतासे स्थिर किया उसने अपनेको—'पण्डितजी !

अनेक बार ऐसा लगता है कि यह सब संसार लुप्त हो रहा है। एक ज्योति है, अद्भुत ज्योति। और कुछ भी नहीं है। जब यह दशा नहीं भी रहती है, सब पदार्थ थोथे-से, सारहीन-से जान पड़ते हैं। ऐसा लगता है, जैसे सब धुएँसे भी सारहीन किसी पदार्थसे बने हैं। किसीने बुलबुलेके ऊपर ये इतने चित्र बना दिये हैं और ये चित्र यों ही इधर-उधर गतिशील हैं। मेरे भीतरकी वही ज्योति है इन सबमें सर्वत्र और उस ज्योतिके मध्यमें जो एक सुकुमार नीलवर्ण, पीताम्बरधारी धनुष-बाण लिये मन्द-मन्द हँसती किशोर मूर्ति है········ ।' कहते-कहते ही वह वैसे ही रह गया। मूर्तिकी भाँति अङ्ग चेष्टाहीन हो गये उसके ।

(३)

'बुद्धिके द्वारा विचार करनेपर तो एक ही चेतन सत्ता है, इसमें सन्देह नहीं रहता। यह समस्त दृश्य प्रपञ्च, मैं और तूका भेद मिथ्या है। एक ही सच्चिदानन्द-तत्त्व है। लेकिन यह बात केवल सोचने और कहनेतक ही है। मेरा समस्त अध्ययन व्यर्थ जान पड़ता है। दूसरोंको बड़ी-बड़ी बातोंका उपदेश देता हूँ, कथाओंमें ज्ञान-वैराग्यकी गम्भीर व्याख्या करता हूँ, दूसरोंकी शङ्काओंका समाधान करता हूँ; किंतु मेरा अपना समाधान नहीं होता। तनिक-से अपमानमें मुझे भयङ्कर क्रोध आता है। कोई भी प्रलोभन आते ही समस्त विचार धरे रह जाते हैं! आप मुझपर दया करें!

मेरी यह देहात्म-बुद्धि कैसे दूर हो। वह घट-घटको प्रकाशित करनेवाला तत्त्व कैसे अपरोक्ष हो !'

वही ग्रीष्म ऋतु, वही लू और धूप, वही तपती हुई दोपहरी ! महात्माजी कई वर्षोंके पश्चात् फिर आये हैं। उन अवधूतको तो घूमना ही ठहरा। अब वे यहाँके लोगोंके लिए अपरिचित नहीं रहे हैं। भीड़ इस बार कुछ और अधिक रहने लगी है। आज पण्डित रमाकान्तजी एकान्तमें अवसर पानेके लिए दोपहरीमें आये हैं। लेकिन आज वे एकाकी हैं।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

महात्माने श्रुतिके मन्त्रका एक अंश पढ़ लिया और चुप हो गये। अधिकारी जैसा हो, उपदेश भी तो वैसा ही होता है। पण्डितजीके लिए व्याख्याकी आवश्यकता नहीं। उन्होंने स्वयं, पता नहीं, कितनी बार इस मन्त्रकी व्याख्या की है—बहुत विस्तृत व्याख्या की है; किंतु आज जैसे मन्त्र कुछ दूसरा हो गया है। आज उसने हृदयको झकझोर दिया है।

'लेकिन वह किसे वरण करता है ? मुझपर क्या उसकी कृपादृष्टि कभी न होगी ?' नेत्रोंसे बिन्दु गिरने लगे। पण्डितजीने संतके दोनों चरण पकड़ लिये। उन्होंने बताया—'मैंने कम प्रयत्न नहीं किया। पता नहीं किन-किन साधनोंका अभ्यास किया। रात-रातका जागरण, शब्द-श्रवणका प्रयत्न यों ही नहीं गया; अनेक प्रकारके शब्द सुनायी पड़े, अब भी सुन पड़ते हैं। नेत्र बंद करके कुछ सामान्य प्रयत्न करते ही विविध रंग, विचित्र दृश्य

आ जाते हैं सम्मुख। गन्धका भी अच्छा अभ्यास हो गया। नाना प्रकारकी गन्धें चेष्टा करनेपर स्वतः अनुभूत होने लगती हैं। लयके साधनमें शरीर जडवत् भी हो रहता है। प्रारम्भमें इनमें बड़ी रुचि हुई, बड़ी सफलता प्रतीत हुई; किंतु वासनाओंकी प्रबलता—चित्तकी शुद्धि? यह सब कुछ भी तो नहीं हुआ। प्रलोभन अब भी तो वैसे ही विचलित करते हैं। और शास्त्रोंने जिस सर्वव्यापी चिन्मय तत्त्वको अन्तर्यामी कहा है, जो हृदयगुहामें स्थित सबका द्रष्टा, सबका प्रेरक साथी है, उसका साक्षात्कार तो हुआ ही नहीं। उसकी छायातक नहीं मिली। सब साधन केवल मनोरञ्जन होकर रह गये।'

'आप विद्वान् हैं, विचारशील हैं! आप जानते हैं कि कोई साधन व्यर्थ नहीं है। सभी साधन सत्य हैं और उसी चरम लक्ष्यतक जाते हैं। लेकिन सफलताका आधार है निष्ठा और दृढ़ता।' संत ज्यों-के-त्यों लेटे रहे। उन्होंने कोई उत्तेजना, हलचल या उठनेका भाव व्यक्त नहीं किया।

'मेरी निष्ठा तो थी विचारपर और अब भी मैं बार-बार वेदान्तग्रन्थोंका मनन करता हूँ।' पण्डितजीको अपनी दशासे बड़ा दुःख है और यह दुःख इसलिए और बढ़ गया है कि उन्होंने अपने अपढ़ पड़ोसीको कुछ ही कालमें परम विरक्त होते देखा है। इतने विद्वान् होकर भी वे वैसे-के-वैसे रह गये और उनका पड़ोसी—वह सीधा-सादा किसान, कितना आत्मलीन, तुष्ट था वह। अब वह किसी तीर्थमें होगा। यात्रामें उसने अबतक केवल एक पत्र दिया है पण्डितजीको। पैदल भारतके समस्त

तीर्थोंकी यात्राको चल पड़ा। पत्रमें पत्नीको केवल आश्वासन देनेकी चर्चा भर की है उसने। कितनी अद्‌भुत स्थिति है उसकी। उसे सर्वत्र एक वही अपना आराध्य दीखता है और यहाँ ··· । लेकिन उसपर संतकी कृपा हुई थी। ये महापुरुष चाहें तो क्या नहीं हो सकता।

'आप यह भी जानते हैं कि बिना साधन-चतुष्टयकी सम्पन्नताके बौद्धिक ज्ञान किसी कामका नहीं। आपके पड़ोसीमें दृढ़ श्रद्धा थी। नाम-जपने उसके हृदयको शुद्ध कर दिया। जबतक चित्त शुद्ध न हो जाय प्रयत्न कैसे सफल हो। प्रयत्नका तो तात्पर्य ही चित्तकी शुद्धिमें है।' संतने बड़ी गम्भीर दृष्टिसे देखा पण्डितजीकी ओर।

'अविशुद्ध चित्त, संयमहीन अचेतस्‌का प्रयत्न सफल हो कैसे।' पण्डितजीने एक दीर्घ श्वास ली और सहसा उनके ओठ हिलने लगे। उन्होंने जब महापुरुषके पदोंमें मस्तक रक्खा—सम्भवतः उनकी वाणी 'रामनाम' के जपमें लग चुकी थी।

परम प्रकाशक

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

'मिस्रकी भाँति यहाँके लोग भी पहले सूर्यकी उपासना करते थे।' मि० हर्वर्टको अमेरिकामें पुरातत्त्व-विभागकी खुदाइयोंमें पहली सूर्यमूर्ति मिली थी। उन्होंने हाथ मैला होनेकी चिन्ता नहीं की। जैसे ही मूर्ति स्पष्ट हुई, गड्ढे में उतर गये और उसपर लगी मिट्टी हाथसे ही छुड़ाने लगे। 'ठीक मिस्र-जैसी मूर्ति है। नीचे रथ मिलेगा और सात घोड़े।' विशाल मूर्तिका केवल ऊपरी भाग दिखायी पड़ रहा था। शेष भाग अब भी भूमिमें ही।

'ये के आदिम निवासी 'रामसीतव' उत्सव मनाते हैं, मनुष्य-शरीर और हाथीके मुखवाले देवताकी पूजा करते हैं।' वे एक मोटी पुस्तक उलट रहे थे। पुरानी मूर्तियोंके चित्र विवरणके साथ उसमें एकत्र थे। 'ठीक यही मूर्ति है। यह तो दक्षिण भारतके गुफा-मन्दिरकी सूर्यमूर्ति है! चाहे मिस्रसे इसकी पूजा भारतमें आयी हो, चाहे भारतसे मिस्रमें गयी हो, पर अमेरिकामें यह भारतसे आयी यह निश्चितप्राय है!' वे बार-बार नीचे देखते जाते थे। मूर्तिकी प्रतीक्षा उनके मनमें उससे कहीं प्रबल थी, जितनी किसी कंगालको रत्न खोदते समय होती।

'कितनी सुन्दर है यह मूर्ति !' चित्रमें विशाल मूर्तिकी वह भव्यता कहाँ आ सकती है। 'कितने कुशल होंगे वे कलाकार; कितनी परिमार्जित होगी उनकी रुचि !' मूर्ति बाहर आ गयी थी। जैसे-जैसे वह स्वच्छ होती जा रही थी, वह प्राचीन कलाका प्रेमी मुग्ध होता जा रहा था। भगवान् भास्करकी वह गम्भीर प्रसन्नमुद्रा– जैसे वे सम्पूर्ण लोकोंको अपने आशीर्वादसे सन्तुष्ट कर रहे हों; दृष्टि वहाँ रुक गयी।

'इतने उच्च मस्तिष्क, इतने कलानिपुण व्यक्ति क्या मूर्ख थे ?' आज ऐसी कुशलता मनुष्यकी कोमल अँगुलियोंमें कहाँ है कि वह अपनी भावनाको इतने स्पष्ट रूपमें मूर्त कर सके। इतनी परिमार्जित सार्वभौम भावना भी उसके पास कहाँ है। 'भारतसे अमेरिका—क्या केवल भय या भावुकता ही इस मूर्तिको ले आयी है ?' वैज्ञानिकके मनमें सन्देह हो रहा था कि इतने उन्नत मस्तिष्क केवल अन्धश्रद्धावश युगोंतक कोई उपासना या क्रिया कैसे चला सकते हैं।

'कितनी भव्य कल्पना है !' अनेक बार उसने सूर्यके रथके घोड़ों, बिना हाथ-पाँवके सारथी और भगवान् सूर्यकी भव्य मूर्तिका चित्र देखा था। अपनी मिस्र देशकी यात्रामें जबसे उसने यह मूर्ति देखी, अत्यन्त प्रभावित हुआ। कौन जाने जन्मान्तरके संस्कार इसी विग्रहकी प्राप्तिकी प्रतीक्षामें उसमें सुप्त नहीं थे। 'हिंदुओंका यह प्रत्यक्ष देवता क्या प्रसन्न और अप्रसन्न भी होता है ?' आज उसे केवल कलाकी भव्यता सन्तुष्ट नहीं कर रही है।

'मैं स्वयं परीक्षा करूँगा !' निश्चयमें बल हो तो साधन स्वतः मिल जाते हैं, पुस्तकालयकी खोज हुई। भारतीय उपासना-प्रणालीके सम्बन्धमें पढ़ा गया। अन्तमें धूप, कर्पूर, रक्त चन्दन और कनैरके पुष्प लेकर वह अमेरिकन पूजा करनेको प्रस्तुत हुआ। उसने कपड़े उतार दिये। केवल हाफ पेंट पहनकर धूपमें दस मिनट खड़ा रहा। थर्मामीटरसे शरीरकी उष्णता पहले माप ली गयी थी। धूपमें-से लौटते ही माप ली गयी। 'प्रकाशके देवता, मेरे लिए तू अपना ताप कम कर !' दूसरी बार उसने थोड़ा-सा पानी धारासे गिराया, चन्दन छिड़का, दोनों हाथमें लेकर पुष्प डाल दिये और धूप जलाकर स्थिर खड़ा हो गया।

'देवता ! देवता !!' वह तो प्रसन्नतासे नाच रहा है। यह कैसे सम्भव हुआ कि दूसरी बार पंद्रह मिनट धूपमें रहने पर भी ताप-मापक वही शरीर-ताप बता रहा है, जो धूपमें जानेसे पूर्व था ! 'देवता, हमें क्षमा कर ! मैं तेरी पूजा सीखूँगा और तुझे प्रसन्न करूँगा। हमने तुझे इतने दिनोंतक छोड़ दिया, तू हमपर रुष्ट मत हो !' हाथ जोड़कर वे सूर्यसे प्रार्थना करने लगे।

मि० हर्वर्टकी माता रेड इंडियन वंशकी थीं और पिता तो जर्मन थे ही। वे अपनेको 'आर्य' मानते हैं। आर्योंका मूल स्थान चाहे जो हो वे भारतसे ही यूरोपमें गये। उनका मूलस्थान भारत नहीं है, इतिहासमें इसका कोई प्रमाण नहीं।' वे अपनी इस मान्यतापर बहुत दिनोंसे दृढ़ हैं। प्रत्येक नवीन खोजने उनकी धारणा पुष्ट ही की है। 'आर्योंमें आदिकालसे सूर्यकी उपासना चली आती है !'

अबतक वे यही मानते थे कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि, मेघ, विद्युत्, पवनकी शक्ति देखकर भयवश आदिमानवने इन्हें देवता मान लिया। आज जो नवीन रहस्योद्घाटन हुआ है....।

'भगवान् सूर्य जगत्साक्षी हैं! समस्त ज्ञानके वे मूल हैं। विश्वका सम्पूर्ण इतिहास उनके लिये वर्तमान-जैसा है। उनमें संयमसे मनुष्य लोकदर्शी हो जाता है।' आज अन्वेषकको पता नहीं क्या-क्या पुस्तकोंमें मिल रहा है। वह भारतीय साहित्यकी सूर्यसम्बन्धी मान्यताओंका अध्ययन करने बैठा है। अंग्रेजी ग्रन्थोंसे जो जाना जा सकता है, वह बहुत थोड़ा लगा उसके लिए।

'मैं भारत जाऊँगा!' आराधना, ज्ञान, आचारके क्षेत्रमें भारत सदा विश्वगुरु रहा है। भारत आये बिना सूर्यकी उपासना सीखी नहीं जा सकती। एक सच्चा अन्वेषक अपने मार्गपर ही था। विश्व-इतिहासके ज्ञानके लिए कंकड़-पत्थरोंका अन्वेषण छोड़कर जिसने विश्वको जन्मसे अबतक देखा है, उसीसे वह ज्ञान प्राप्त करना मार्ग-च्युति तो है नहीं। आप उसके उद्देश्यको सकाम कहेंगे, पर था वह सच्चा। उसी दिन भारतीय दूतावासमें वह अपना परिचय-पत्र लेकर 'यात्रानुमति' (पासपोर्ट) लेने पहुँच गया।

(२)

'ऐसा लगता है कि हमारी घड़ियाँ ठीक काम नहीं कर रही हैं।' पृथ्वीको छोड़े लगभग चौदह घंटे हो गये। केवल दो घंटेमें राकेट चन्द्रमापर उतर जाना चाहिये। दिग्दर्शक यन्त्र काम देना कबका बंद कर चुका

है, पर यात्राकी दिशा बदली हो, इसका कोई कारण नहीं है। ग्रेमिकोने दूरदर्शकपर दृष्टि लगाकर ध्यानसे देखा 'चन्द्रमा तो अभी उतनी ही दूर दीख पड़ता है, जितनी दूर वह दिखायी पड़ा था।' राकेट दिनमें दो बजे यूराल पर्वतकी उस उच्च प्रयोगशालासे छोड़ा गया। पूर्णिमा होनेके कारण ठीक ६ बजे चन्द्रमाका पूर्ण बिम्ब क्षितिजपर उदित हुआ। गणितके अनुसार प्रातः ही वे लोग चन्द्रभूमिपर होंगे।

'घड़ीकी सेकेंडकी सुई ठीक चल रही है। उसमें कोई दोष नहीं।' लूशियो अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ। शीघ्रतापूर्वक दूरदर्शकके पास पहुँचा। 'दो घंटेमें सूर्यका प्रकाश फैल जायगा। चन्द्र अदृश्य हो जायगा। कुछ पता नहीं, हम कहाँ जा रहे हैं।' राकेट परमाणु-शक्तिसे शब्दकी गतिसे जा रहा है, इसकी यात्रियोंको केवल स्मृति है। उनको भीतर न तो कोई गति जान पड़ती है और न कोई असुविधा।'

'हम पृथ्वीसे बहुत दूर आ चुके' ग्रेमिकोने नीचेके यन्त्रमें देखकर बताया। 'केवल आकाशमें एक नन्हें बिन्दु-सी है हमारी भूमि। हम उसे खो देंगे शीघ्र ही। चिन्ता नहीं, हमारा राकेट लौटानेपर सीधा प्रयोगशालामें ही पहुँचे ऐसी व्यवस्था मार्शल पत्कीने कर ली होगी।'

'मुझे भूख लगी है।' मोटे शरीरका लिस्टोवस्क चुपचाप दोनोंकी बातें सुनता रहा। 'चलो पहिले जलपान करो। हमारे पास पर्याप्त फल और मक्खन है। दो-चार दिन चलना हो तो भी कुछ हानि नहीं। मेरी बड़ी मुर्गीने

अंडे देने प्रारम्भ कर दिये हैं और यदि चन्द्रमा न मिला तो मैं इस मनहूस 'केक्स' को बाहर फेंक दूँगा।' बिना दूसरोंकी चिन्ता किये बोलते जाना उसका स्वभाव है।

'तुम 'केक्स' की रोटियोंसे इतनी ईर्ष्या क्यों करते हो।' लूशियो लौट आया और उसने उस बड़े झबरे कुत्तेको पुचकारा। खिड़कियाँ नहीं हैं और होतीं भी तो उनको खोला नहीं जा सकता था। चन्द्रमापर उतरते ही यह प्यारा जानवर हमारा अच्छा मित्र सिद्ध होगा।' वे अपने साथ कुत्ता, दो बिल्लियाँ, कुछ मुर्गियाँ, खरगोश, चूहे तथा फलों और फूलोंके थोड़े बीज ले आये थे। कुत्तेके अतिरिक्त सबको चन्द्रमापर छोड़ देना था। लिस्टोवस्कको कुत्तोंसे कुछ चिढ़ है। वह इस बातपर झगड़ चुका है कि पृथ्वीपर कुत्तोंकी कमी नहीं है जो इस झबरेको लौटाकर ले जाया जाय।

'हम चाहें तो लौट सकते हैं।' ग्रेमिको सबसे अधिक उदास था। यन्त्रके पाससे आकर अपनी कुर्सीपर वह गिर-सा पड़ा। 'कौन कह सकता है कि अमेरिकन हमारे फिर लौटनेतक सफल न हो जायँगे।' वह कुछ सोचने लगा। चन्द्रमापर पृथ्वीका जो राष्ट्र अधिकार कर लेगा, पृथ्वी उसीकी हो जायगी। चन्द्रमाको केन्द्र बनाकर वहाँसे राकेट फेंककर चाहे जिस देशको वह नष्ट कर सकेगा। अमेरिका चन्द्रलोक-विजयकी वर्षों पूर्वसे योजना बना रहा है। उसकी समस्त योजनाएँ पूर्ण हो चुकीं। अब वहाँके पत्रोंपर प्रतिबन्ध लग गया है कि इस सम्बन्धके समाचार न छापे जायँ। धूर्त अमेरिकन पत्र विश्वका ध्यान दूसरी ओर

आकर्षित करनेके लिए अब 'मङ्गलग्रहकी यात्रा' की बातें करने लगे हैं। रूस भला असावधान कैसे रहता। उसने सब बातें गुप्त रक्खीं। उसका राकेट यात्रामें है, यह भी विश्वके लोग जान न सकें, ऐसी व्यवस्था हुई है। अब यदि यह राकेट असफल लौटे तो अमेरिकनोंको अवकाश मिल जायगा।

'हो सकता है कि मेरा अनुमान ठीक हो।' ग्रेमिकोने न तो फलोंकी ओर देखा और न मक्खनकी ओर। वह एक दूसरी टेबिलके पास जा बैठा और कुछ शीशे निकालने लगा। 'कितनी भयंकर बात होगी।' उसकी मुद्रा और शब्दने साथियोंको डरा दिया। वे उसीकी ओर देखने लगे।

'लूशियो! राकेट लौटाओ, कोई लाभ नहीं आगे जानेसे।' वह यन्त्रपर मस्तक झुकाये-झुकाये ही चिल्लाया। 'यह देखो, चन्द्रमाकी किरणें सूर्यकी किरणोंसे भिन्नता रखती हैं।' एक ओर अरुणोदयकी ललिमा थी और दूसरी ओर चन्द्रविम्ब लुप्त होने जा रहा था। इस समय भी चन्द्रमा इतनी दूर! ग्रेमिकोकी प्रशंसा करनी होगी, वह डूबते हुए चन्द्र और उदित होते सूर्यकी किरणोंको एक साथ यन्त्रपर शीशेसे डालकर देखनेमें समर्थ हुआ था।

'क्या हुआ?' लूशियोने बैठे-बैठे ही पूछा।

'चन्द्रमाकी शीतल किरणें सूर्यकी किरणोंसे भिन्न हैं, यह बात आजतक किसीने क्यों नहीं देखी?' ग्रहोंकी दूरीका ज्ञान किरणोंके रंग-विश्लेषणसे वैज्ञानिक करते हैं।

सभी ग्रहोंकी किरणोंमें कोई मौलिक भेद भी है, यह वे नहीं मानते। 'हमने पढ़ा है कि पृथ्वी गोल है पर आज देखा है कि वह नतोदर है। जान पड़ता है, चन्द्रमाके सम्बन्धमें भी हम धोखेमें ही हैं। हिंदुओंका ही गणित ठीक लगता है। चन्द्रमा पृथ्वीका सबसे दूरस्थ ग्रह है।' ग्रेमिकोके यन्त्र ऐसे न थे कि पूरा विश्लेषण हो सके। राकेटमें आने योग्य सामग्री ही तो आवेगी। उसने राकेटका मुख पृथ्वीकी ओर करनेके लिए चालक यन्त्रपर हाथ रक्खा।

(३)

'दौड़ो! दौड़ो!!' वृद्ध सहसा चिल्ला पड़े। 'अग्नि बढ़ती जा रही है।'

सचमुच अग्नि बढ़ती जा रही थी। जंगलकी दावाग्नि, वह क्या घड़ों और बाल्टियोंसे बुझायी जा सकती है। झोंपड़ियोंसे कुछ काले-काले, जीर्ण मैले वस्त्र लपेटे मनुष्य निकले कुल्हाड़ियाँ लेकर, पर दौड़नेके बदले वे खड़े हो गये। अग्नि बढ़ चुकी थी। नवीन अग्नि लगाकर लकड़ियाँ काटकर दावाग्निका मार्ग रोकनेका समय नहीं रह गया था।

'ड्राइवर जल्दी करो!' बेचारे वृद्ध रुस्तमजी भागे मोटरकी ओर। कहाँ इस वनमें आ फँसे। क्या आवश्यकता थी स्वयं जंगल देखनेकी। कागज बनानेकी मिल न खोलनेसे ही क्या हानि होती। मिलोंके लिए जो जंगल खरीदे जाते हैं, सभीको तो वे स्वयं नहीं देखते।

यह नया मैनेजर बड़ा मूर्ख है। उसीने हठ करके साथ लिया उन्हें। कहाँ वे माला फेरने और दिनमें तीनों समय हवन करनेवाले और कहाँ यह खटपट। मनमें सब बातें आयीं और गयीं। माला एक ओर गिर पड़ी। साथ लाया हवन-कुण्ड पड़ा रहा। प्राणोंपर आ बनी हो तो यह सब कौन स्मरण रक्खे। किसीको डाँटनेका समय नहीं था। मैनेजर पहले मोटरमें दौड़ आया था।

'कोई रास्ता बचा नहीं!' ड्राइवरको अपने प्राण क्या प्रिय नहीं हैं? उसने इधर-उधर देखा और हताश खड़ा रहा।

'ये सब क्या कर रहे हैं। इन्हें मोटरके लिए रास्ता बनानेको कहो!' सेठजीने चिल्लाकर कहा। वे स्वयं उन जंगलियोंकी ओर दौड़े। वे सब एक झोंपड़ीके सामने इकट्ठे हो गये थे और एक बूढ़ेसे झगड़ रहे थे। बूढ़ा पता नहीं क्यों रुष्ट हो रहा था। 'मैं सबको सौ-सौ रुपये दूँगा! मेरी मोटर निकाल दो।' किसीने देखातक नहीं सेठजीकी ओर। वे उस बूढ़ेके हाथ जोड़ रहे थे, रो रहे थे और औरतें कदाचित् उसे गालियाँ दे रही थीं।

'ये सब पापी हैं, देवताकी पूजाके समय सबने कंजूसी की। अब देवता इन्हें भस्म कर देगा।' बूढ़ेकी दृष्टि वृद्ध पारसी सेठपर पड़ गयी थी। वह उनके पास आ गया। औरतोंने सेठके पैरोंपर छोटे बच्चे रखने और रोनेका क्रम प्रारम्भ किया। उनकी बात समझमें आवे, ऐसी नहीं थी। मैनेजर और ड्राइवर दूरसे ही इस दृश्यको देख रहे थे। वे कभी इधर देखते और कभी अग्निकी ओर।

'मंगूने केवल चार पैसे दिये और बदलूने दो आने। दोनोंको उसी दिन ताड़ी पीनी थी। सब पापी हैं। सब जलेंगे। अब मेरे पास आनेसे क्या लाभ। मैं कुछ नहीं करूँगा।' बूढ़ा कहता जा रहा था। जैसे अग्नि आवेगी तो उसे छोड़ देगी। जिस अतिथिसे वह इतनी शिकायतें कर रहा है, उसे भी अग्निसे भय है, इसका उसे ध्यानतक नहीं आया।

'तुम मुझे बचाओ! मेरी मोटर निकाल दो।' सेठने देखा कि यदि बूढ़ा मान जाय तो सब इसकी बातें मान लेंगे। सब किस प्रकार मोटरके लिए मार्ग बना सकेंगे, सम्भवतः इसका उत्तर उनके पास भी नहीं था। 'मैं यह सब रुपये तुम्हें दूँगा। जितने माँगोगे, उतने और दूँगा!' नोटोंका बड़ा बंडल निकालकर हाथमें लिया उन्होंने।

'तुम्हारे ये कागज हमें नहीं चाहिये!' बूढ़ेने मुख फिरा लिया। 'इनसे पूछो, ये देवताकी पूजा करनेको कहें तो मैं तुम्हें बचा दूँगा—सबको बचा दूँगा।'

'मैं दूँगा तुम्हारी पूजाको रुपये। जितने चाहो, उतने रुपये। बचाओ।' समय नहीं था यह सोचनेका कि यह कंकाल वृद्ध इस महानलसे कैसे बचावेगा।

'तुम पैसे दोगे?' एक बार उसने सेठजीके मुखकी ओर स्थिर नयनोंसे देखा। 'नहीं, तुम्हारे पैसेसे देवता पूजा नहीं लेगा।' दृष्टि नीची कर ली उसने।

'हत्यारे, क्यों सबको भूननेपर तुला है? ले, पैसे ले।' स्त्रियोंने पीतल और काँसेके आभूषण शरीरसे नोच-नोचकर फेंकने प्रारम्भ किये वृद्धके सम्मुख। 'बाबा, यह

रहे पैसे और यह रहा दाना।' पुरुषोंको झोंपड़ियोंमें जो मिला, उठा लाये दौड़कर। अग्निका ताप अब अनुभव होने लगा था।

'यह सब उठा लो अपना-अपना।' वृद्ध द्रवित हो गया। 'पूजामें जो चन्दा लगेगा, उसमें कंजूसी मत करना।' उसने एक कलशी उठायी और पासके झरनेकी ओर मुड़ गया।

'वह गया। देवता मान जायगा।' लोग अपने अन्न और आभूषण उठाकर ले जाने लगे। औरतोंका चिल्लाना बंद हो गया, पर वे अब भी बूढ़ेको कोसती जा रही थीं 'कितना खूसट है यह कलूटा।' वृद्ध सेठकी समझमें कुछ नहीं आ रहा था। अग्नि बढ़ी आ रही है। बूढ़ा अकेला कैसे बुझा लेगा उसे? ये सब क्यों आश्वस्त हो गये। वे बूढ़ेके पीछे चले।

'देवता! देवता! लौट जा! हम तेरी पूजा करेंगे!' बूढ़ेने स्नान किया, कलशी मली और फिर जल भरा। उसे कोई उतावली नहीं जान पड़ती। वह स्थिर पदोंसे अग्निकी ओर बढ़ता जा रहा है। ताप असह्य होनेसे सेठजीको कुछ दूर रुकना पड़ा। बढ़ी आती लपटोंमें इस प्रकार स्वयं जाना कोई बुद्धिमानी नहीं थी। बूढ़ेने न तो मन्त्र पढ़ा कोई और न कोई विधि की। वह तो अपनी प्रार्थना इस प्रकार कह रहा है, जैसे सम्मुखके व्यक्तिसे बातें कर रहा हो। कलशीके जलके छींटे अग्निकी ओर फेंकता वह गोल मण्डल बनाता आगे जा रहा है।

'क्या जादू है इसमें!' जैसे अग्निदेव उन शब्दोंको समझते हैं। छींटोंके साथ लपटोंका प्रवाह पीछे लौट रहा

है। वायु प्रचण्ड है, सम्मुख ईंधन है और अग्निकी लपटें लौट रही हैं। एक वन्य असभ्य मानव जैसे उनपर शासन कर रहा हो।

'तुम मोटर लेकर चले जाना!' सेठजीका भाव सहसा बदला। वे मैनेजरके पास लौटे। 'मैं इस बूढ़ेके पास रुकूँगा।' आदेश देकर वे फिर उसी ओर जाने लगे।

'उसने अग्निको बाँध दिया! देवता मान गया।' झोपड़ोंके सम्मुखसे जंगली स्त्री-पुरुष पुकार रहे थे।

(४)

'हमारा राकेट अपने स्थानपर नहीं पहुँच सका। पता नहीं क्यों वह फट गया और हम पैराशूटसे कूद सके।' उन्हें बताया गया था कि लक्ष्यच्युत होनेपर वे कूदनेको प्रस्तुत रहें। अग्नि लगकर राकेट फट जायगा, यह संचालकोंने व्यवस्था कर दी थी। एक साधुसे कुछ भी छिपानेकी आवश्यकता नहीं थी। उनके पास न परिचय-पत्र थे और न यात्रानुमति-पत्र। इस अपरिचित देशमें बहुत कुछ सहायता और सुविधा अपेक्षित थी उनको। यही क्या कम कुशल हुई कि जीवन बच गया।

'तुम चन्द्रमापर जाना चाहते हो।' साधु तनिक हँस पड़े। 'उस अमृत क्षेत्रको भी तुम संग्राम, संघर्ष और मृत्युका केन्द्र बनाना चाहते हो! देवता उसकी रक्षा करते हैं।'

'चन्द्रमापर जीवन रह सकता है।' तीनों रूसियोंमें एक मोटा, दूसरा लंबा और तीसरा नाटा है। नाटी आकृतिके व्यक्तिने ही पूछा था।

'वह अमृत-केन्द्र है ! वहाँ जाकर कोई मरेगा नहीं ; पर वहाँसे लौटेगा कि नहीं, कहा नहीं जा सकता।' वाणी गम्भीर हो गयी।

'तो वहाँ हम जीवित रह सकते हैं।' पता नहीं क्यों नाटे व्यक्तिको भारतीय धारणामें आज विश्वास हो गया है।

'परन्तु वहाँ आसुर मनुष्य पहुँच सकेगा, इसकी कोई आशा नहीं।' साधुको स्मरण आया कि असुर स्वर्गपर आधिपत्य करनेमें अनेक बार सफल हुए, पर वे कभी भी चन्द्रलोकके अधिपति न हो सके।

'चन्द्रमाका प्रकाश ?'

'चन्द्रमामें प्रकाश तो तुम मानते ही नहीं हो।' फिर मन्दस्मित आया 'किंतु चन्द्रमामें प्रकाश है और वही प्रकाश है जो समस्त लोकोंको प्रकाशित करता है।'

'आप लोग !' लाल रंगका उत्तरीय, लाल धोती, रक्तचन्दनका तिलक और कमलगट्टेकी माला लिये कुटियामें एक विचित्र व्यक्तिने प्रवेश किया। वह द्वारपर ठिठक-सा गया।

'ये भी तुम्हारी भाँति जिज्ञासु हैं।' साधुने भीतर आनेका संकेत किया। वे बड़ी नम्रतासे आकर प्रणाम करके भूमिपर ही बैठ गये। 'ये लोग रूससे चन्द्रमाको ढूँढ़ते आये हैं, जैसे तुम अमेरिकासे सूर्यको ढूँढ़ते हुए आ पहुँचे हो।'

'यह पूरा रेड-इंडियन हो गया है।' एक रूसीने धीरेसे दूसरेके कानमें व्यंग किया। उनमें ईर्ष्या जाग्रत् हो गयी थी।

'भारतमें सौर-सम्प्रदाय लुप्तप्राय हो चला है। तुम भाग्यवान् हो, जो उसकी परम्परागत उपासना प्राप्त कर सके।' साधु आगन्तुकके प्रति अधिक आकृष्ट जान पड़े। 'इनसे पूछो कि ब्रह्माण्डमें कितने सूर्य हैं।' नाटे रसियनकी ओर संकेत हुआ।

'हमारी आकाशगङ्गाका प्रत्येक तारा एक सूर्य है। हमारा सूर्य अपने सम्पूर्ण नक्षत्रों एवं ग्रहोंके साथ उसीमें एक तारा है। इन सूर्योंकी परस्पर दूरी करोड़ों प्रकाश वर्ष है।' ग्रेमिको खगोल शास्त्रका पण्डित है। उसे बोलनेका अवकाश मिला था। 'प्रकाशकी गति एक सेकेंडमें ही कई लाख मील है। एक वर्षमें वह जितनी दूर जाय, वह दूरी एक प्रकाश वर्ष कही जायगी। दूरदर्शकमें इसके पीछे और भी नीहारिका-मण्डल क्रमश: दीखते हैं। वे कितने हैं, कोई नहीं जानता, सम्भवतः जान भी नहीं सकता। सब आकाशगङ्गा हैं। सबमें अनन्त-अनन्त तारे हैं। प्रत्येक तारा सूर्य है।' वह जानता था कि साधुको पूरी बात समझानी पड़ेगी।

'मैं अपने ब्रह्माण्डके इन प्रत्यक्ष भगवान् नारायणको ही जानना और सन्तुष्ट करना चाहता हूँ।' बिना विचलित हुए उस रक्ताङ्ग, रक्त-वस्त्र साधकने मस्तक झुकाया। ये बातें उसे ज्ञात न हों, ऐसा नहीं है। वह भी इस विद्याका कभी जिज्ञासु रहा है; किंतु आज वह साधक है। निष्ठाका महत्त्व जान चुका है।

'सेठजी पधारें!' पारसी होनेपर भी वृद्ध सेठ श्रद्धालु हैं। वे जब कभी उड़ीसामें अपने कारखानोंको देखने आते हैं, यहाँ होकर ही लौटते हैं। 'आज आप अधिक खिन्न

जान पड़ते हैं।' भारतीय साधुकी झोपड़ी कोई पाश्चात्य कार्यालय तो है नहीं कि वहाँ मिलनेवाले बारी-बारीसे मिलेंगे। यहाँ तो जो पहुँचे, सभीके लिए समान रूपसे द्वार खुला है।

'मैंने जीवनभर अग्निदेवकी पूजा की।' सेठजीने दूसरे लोगोंकी उपस्थितिकी चिन्ता नहीं की। साधुके पास तो लोग बैठे ही रहेंगे। 'व्यर्थ-सी है मेरी पूजा! मेरी कोई भेंट वे स्वीकार करते हैं, यह जान नहीं पड़ता।' उस जंगली वृद्धने अपने देवताकी पूजामें उनका पैसा लेना अस्वीकार कर दिया, यह वे कैसे भूल सकते हैं।

'सब-के-सब एक ही भूल करते हैं।' महात्माने एक बार सभी उपस्थितोंकी ओर दृष्टि घुमायी। 'तुम समझते हो, यह स्थूल अग्नि ही अग्नि है। यह मानते हैं कि वह तेजोगोलक ही सूर्य है। ये लोग चन्द्रमाके प्रकाशको ही पृथक् कर रहे हैं। लकड़ी जल जानेके पश्चात् अग्नि कहाँ रहते हैं? अग्निमें जिस हिरण्य और सर्वव्यापकका प्रकाश है, उस दिव्य तेजस्को तुम अपनी श्रद्धा प्रदान करो! सूर्यमण्डलमें जो शशिवर्ण चतुर्भुज श्रीनारायण हैं, उन्हींसे तो अनन्त-अनन्त सूर्य प्रकाश पाते हैं। उनको छोड़कर केवल स्थूल गोलककी आराधना कैसे पूर्ण होगी। चन्द्रमामें जो इन्दीवराभ श्यामताका रूप लिये बैठा है वही तो उस शीतल प्रकाशका मूल है। उसे छोड़कर कहीं प्रकाशका विश्लेषण हो सकता है?'

'सर्वव्यापक अग्निको विश्वके परम प्रकाश तत्त्वको उस वृद्धने अपने विश्वास और प्रेमसे सम्बोधित किया था।' पारसी सेठ सोचने लगे थे।

'समस्त सूर्योंके प्रकाशक एक ही हैं और वे आदित्य-मण्डलगत भगवान् नारायण हैं।' अमेरिकन साधक अपनी निष्ठाके अनुरूप अर्थ करनेमें लगे थे।

'प्रकाशकी चरम सीमा नीली होती है। प्रकाशका केन्द्र नीला होता है। सम्भवतः यह साधु हमसे चन्द्रमाकी नीलिमासे प्राप्त प्रकाशका विश्लेषण करनेको कह रहा है।' ग्रेमिको अपनी भाषामें अपने लंबे साथीको समझा रहा था।

मध्याह्न कृत्यका समय होनेसे साधुने सबको विदा दी। जब वे लोग द्वारसे निकल गये, साधु बार-बार गाते रहे—

सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई।

धारक और पालक

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

आधिदैवत जगत्की बात—

वनस्पतिराज सोम आसनासीन थे। दूर्वा, लघुतृणसे लेकर छोटे वीरुध, झबरे क्षुप, ठिंगनी झाड़ियाँ, लचीली लतिकाएँ, विशाल ऊँचे पादप सभी एकत्र हुए थे। सब खिन्न थे। सब दुःखी थे। सब संकटसे परित्राण चाहते थे।

'हमें विलासोद्यानोंकी शोभा बना दिया गया है। तनिक लहरानेका मन करते ही काट दिया जाता है। न यज्ञकी सुरभि प्राप्त होती और न जगदाराध्यको अर्पित होनेका सौभाग्य ही।' दूर्वाने अपना अभियोग उपस्थित किया। 'गायोंका पवित्र ग्रास बननेके स्थानपर हमें अश्वतरियों (खच्चरियों) और गर्दभोंका आहार बनाया जाता है।'

'मन्त्रोंके मङ्गलगानसे पूजाके पश्चात् वर्षमें एक दिन हमारा चयन होता था और हमारे महत्त्वसे वह अमावस्या कुशोत्पाटिनी कही जाती थी। यज्ञवेदियोंका हम शृङ्गार बनते, यज्ञोपवीतकी भाँति हमारी उपवीती बनायी जाती, हमारे ऊपर तपःपूत महर्षि आसीन होते।

हमारे अग्रभागसे उठे बिन्दु उनका अभिषेचन करते।'
कुशकी व्यथा समझने योग्य थी। काँस उसका साथी हो गया था कष्टमें। 'हमें कण्टक माना जाता है। हमारी जड़ोंको दानवाकार यन्त्रोंसे उखाड़ा जा रहा है। हम निर्मूल किये जा रहे हैं। हमारे बन्धु उशीरकी भी यही दशा है। उसका दुर्भाग्य इसलिए बढ़ गया है कि उसकी जड़ोंमें थोड़ी सुगन्ध और शीतलता है। उसका उच्छेद करके मानव कृत्रिम शीतलता पानेमें सफल होता जा रहा है।'

'हमें सदा ओषधि कहा जाता था। पवित्र गोमयका आहार प्राप्तकर हम परिवर्धित होते थे। क्षेत्र-पूजनके अनन्तर हमारा संग्रह किया जाता। देवराज हमारी सुरभित आहुतियोंसे तुष्ट होते और हमें वह यज्ञीय सुरभिसे पूर्ण वर्षाके जलसे पुष्ट करते। हमारा सारतत्त्व शरीरोंमें मन बनकर जब आनन्दघन प्रभुका स्मरण करता तब हम कृतार्थ हो जाते!' अन्नोंका स्वर कम करुणापूर्ण नहीं था। 'आज हमें विद्युत्के बलपर विवश किया जाता है बढ़नेके लिए। अस्थि, भस्म, क्षार, मल····छिः। हमारे लिए समस्त बीभत्स मलिन वस्तुएँ आहार बनायी जाती हैं। कटुगन्धि, तीक्ष्णजल देवराज देते हैं, अन्ततः उनके घन भी तो पाषाणी कोयलेकी गन्धसे पूरित कर दिये गये। कृत्रिम सिञ्चनका जल भी क्या 'जीवन' कहलाने योग्य है! मनुष्य कहता है कि वह रोगी होता जाता है, उसका मन विकारपूर्ण हो गया है। हममें जो गंदगी वह भरता है, वही तो पावेगा। बेचारे जीव कितनी आशासे जलकी धारासे धरामण्डलमें आकर हममें प्रवेश करते

हैं। यही मर्त्यलोक मोक्षधाम है; किंतु हमारा सारतत्त्व मन विषयोंमें—पापोंमें लगा दिया जाता है। हम अपने इस दुरुपयोगका कैसे निवारण करें ?'

'हमारे पुष्प कुचले जाते हैं, उसका रक्त आज इत्र कहलाता है। हमारे काष्ठ किसी आर्तका कष्ट निवारण करनेके स्थानपर चर्म रँगनेके उपयोगमें आने लगे हैं! सबसे बड़ी बात यह कि हमें नष्ट किया जा रहा है। कहीं उत्पन्न होने और जीवित रहनेकी सुविधा नहीं!' लताओं, वीरुधों, क्षुपों—सबके एक ही कष्ट हैं।

'दन्तधावनके लिए तनिक-सी टहनी लेनेसे पूर्व कितनी नम्रतासे हमसे क्षमा माँगी जाती थी। हमसे फलोंकी भिक्षा माँगते थे वे तेजोमूर्ति जो जगत्‌को समस्त सिद्धि देनेमें समर्थ थे। हम शिशुकी भाँति स्नेह-सिञ्चन प्राप्त करते!' तरुओंने अपने भाग्यपर अश्रु बहाये। 'आज हमपर कुल्हाड़ी बजते देर नहीं लगती। तनिक कोई डाल शिथिल हुई या मनुष्यको अनावश्यक जान पड़ी, काट दी गयी। हमारे फलोंका उपयोग, हाय!— ऐसा मनमें आता है कि फल विषैले हो जायँ और ये सब क्रूर नष्ट हो जायँ! जिन पक्षियों, कीटोंको हम स्नेहसे शरण देते हैं, जो हमें पोषण देते और प्रसन्न रखते हैं, वे भुशुण्डी और विषसे मार दिये जाते हैं। हमारी सहज जाति भ्रष्ट करके हममें वर्णसंकरता उत्पन्न की जा रही है। मनुष्य आज स्वाद और आकार देखता है, गुण नहीं। हमारे अधिकांश बन्धु नष्ट कर दिये गये, हमें स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा नहीं।

'भगवान् श्रीकृष्णने धरासे जैसे ही पदार्पण किया, अधर्ममूल कलिका साम्राज्य हो गया। सम्राट् जनमेजयके शासनकालतक कुछ भीत रहा वह, पर अब तो निरंकुश हो गया है!' राजाने देखा कि अभियोग उपस्थित करनेवालोंकी संख्या अपार है। यदि एक-एक वर्गके प्रतिनिधिको भी बोलने दिया जाय तो वर्षों लगेंगे। उन्होंने उपसंहार करना चाहा। 'मैंने महाराज विक्रमके साथ ही पृथ्वी छोड़ दी। मेरे प्रतिनिधियोंसे ही यज्ञ चलता रहा अबतक। ऐसे कृतघ्न मनुष्योंको पोषित करनेकी अपेक्षा सब लोग उन्हें मरनेके लिए छोड़ दें, यही उपयुक्त होगा।'

'बेनके अत्याचारके समय धरित्रीनें हमें अपने अङ्कमें शरण दी।' वनस्पतियोंने कठिनाई निवेदित की। 'आप महान् हैं। अदृश्य होना आपके लिए सरल है। आत्महत्या तो पाप है, फिर हम स्थूल जगत्को कैसे छोड़ सकते हैं?'

'मैं भगवती धरासे प्रार्थना करूँगा!' राजाने आश्वासन दिया।

(२)

'मैंने मनुष्यको सदा पक्वरत्न और धातुएँ दीं और इसीसे वह मुझे रत्नगर्भा कहता आया। हिमोज्ज्वल गौके नेत्र आँसुओंसे भीग गये। 'अब वह मेरी स्नायुओंका रस निकालता है, कच्ची धातुएँ खोदता है, मेरी जीवनी शक्तिका शोषण कर रहा है। उसके लिए यह कोयला, मिट्टीका तेल, धातुएँ अभिशाप बन रही हैं। मेरी शक्ति नष्ट हो रही है। मेरे शिशु दुर्बल, क्षीण हो रहे हैं। मैं

उनका पालन करनेमें असमर्थ हूँ।' श्रुति जिनको क्षमाकी प्रतिमा कहती है, उन जगद्धात्रीमें रोष नहीं, शोक ही था। अपनी ही सन्तानोंसे रुष्ट तो वे कैसे होंगी।

'देवता उपोषित हैं, रुष्ट हैं। हमारी प्रजा विकृत हो रही है। वह नष्ट होनेके समीप है।' वनस्पतिराज सोम बड़ी आशासे आये थे।

'स्वयं मुझे अभिवादन एवं आहुतियोंके स्थानपर निरन्तर आघात मिल रहे हैं!' वसुन्धराने उसी खिन्न स्वरमें कहा— 'मेरे चर्ममें घृणित क्षार, ज्वलनशील तत्त्व सम्मिलित करके उत्पादन बढ़ानेका यह अन्ध यत्न आप देखते ही हैं। मेरी व्यथाकी मुझे चिन्ता नहीं, पर त्वचा बंजर होती जा रही है। यह अतिरिक्त उत्पादन अपनी जड़ काट रहा है। उर्वी अब उर्वरा रहे कैसे, ये पदार्थ मेरे त्वक्की चेतनाको मृत कर रहे हैं। मनुष्य कृमिकी भाँति क्षुधाकुल होकर मरेंगे। मैं रक्षा नहीं कर सकती। अभी ही इन विकृत उत्पादनोंसे वह रोग एवं शोक पा रहा है। उसे मेरा दुग्ध नहीं, रक्त चाहिये।'

'आप ही समस्त प्राणियोंको धारण करती हैं।' सोमके स्वरमें क्रोध था।

'यह ठीक है कि जब मैं संतप्त होकर निःश्वास लेती हूँ लक्ष-लक्ष प्राणी कालकवलित हो जाते हैं।' भूकम्पका यह दैवी कारण यन्त्र आज चाहकर भी नहीं समझ सकते। 'बड़ा कष्ट होता है मुझे; किंतु जब उत्पीड़नकी सीमा होती है, सहज अङ्ग-कम्पको कैसे रोका जा सकता है!'

'उसे रोकनेकी नहीं, भली प्रकार हिला देनेकी आवश्यकता है।'

'बेचारे नन्हें प्राणी !' भूमिने निःश्वास लिया 'तुम सोचते हो कि मैं उनका धारण करती हूँ। अब तो मानव भी जान गया है कि मेरे प्रभावक्षेत्रसे बाहर यदि वह अपने कृत्रिम विमानोंसे निकल जाय तो वहाँ फेंकी हुई वस्तु जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहेगी। वहाँ पदार्थमें जो गति होगी, वह बनी रहेगी, जबतक कोई ग्रह उसे प्रभावित न करे।'

'मनुष्य वहाँ निवास नहीं बना सकता !' प्रतिवाद किया सोमने ! 'उसे रहना आपकी ही गोदमें है, चाहे वह कितना भी ऊपर उड़े। इतना शक्तिशाली वह नहीं हो सकता कि स्वयं अपना धारण कर ले और आपकी उपेक्षा कर दे ! आप ही कुछ न करें तो बात दूसरी है।'

'बेनके शासनकालमें मैंने तुम्हारी प्रजाको शरण दी, इसीसे तुम मुझसे आशा करते हो।' बात ठीक ही थी। 'तुम भूलते हो कि मैं प्राणियोंका धारण करती हूँ। मैं भी यही समझती थी पर भगवान् पृथुने मेरा भ्रम दूर कर दिया !' अपने पिताके स्मरणसे पृथ्वीके नेत्र श्रद्धापूर्ण हो गये।

'वह सत्ययुगकी बात थी !' सोमका सन्तोष हुआ नहीं।

'उन्होंने कहा था कि वे स्वतः अपने प्रभावसे लोकोंका धारण करनेमें समर्थ हैं !' धरित्रीने सोमकी बात सुनी ही नहीं। वे ध्यानमग्न बोल रही थीं—'निराधार जलनिधिके वक्षपर शेष होकर वे मेरा धारण करते हैं, शून्य गगनमें मैं उन्हींकी गोदमें उन्हींकी शक्तिसे स्थित हूँ। उन्हींका ओज मेरे कण-कणमें आकर्षण बना है। वही अपने

ओजसे समस्त प्राणियोंका धारण करते हैं। यह तो उनका अनुग्रह है कि मुझे उन्होंने निमित्त बना लिया है। आकर्षणके स्वरूप वे मेरे नाथ!' पता नहीं धराको भगवान् श्वेतवाराहकी चन्द्रधवल दन्तकोटि स्मरण आयी या द्वापरके अन्तका वह श्रीकृष्णचन्द्रका कोमल पाद-स्पर्श, उनका रोम-रोम खड़ा हो गया। आनन्दपुलक था यह। अन्तरके आह्लादमें व्यथा विस्मृत हो गयी थी।

'मैं निराश ही जाऊँ!' वनस्पतियोंके सार्वभौम सम्राट्ने कुछ देर प्रतीक्षाके पश्चात् खिन्न स्वरमें पूछा।

'मैंने दीप्त रत्नोंको अन्तर्हित कर दिया! कोई स्वतःप्रकाश रत्न मनुष्यको उपलब्ध नहीं। संजीवनी जैसी दिव्यौषधियाँ भी मेरे अङ्कमें सो गयीं' कुछ क्षण पश्चात् धराने कहा। 'बीजोंका सर्वथा तिरोभाव मेरे लिए शक्य नहीं। वे मेरे पिताकी पावन स्मृति हैं! उन्होंने अपने अरुण कोमल हाथोंसे मुझसे इनका दोहन किया। उनकी आज्ञाका अतिवर्तन करना अपमान है उनका।'

'बीजोंको तो मनुष्य स्वयं नष्ट कर देगा।' सोमने मन्तव्य स्पष्ट किया। 'वह मूल बीजोंको मिश्रित करके शक्तिहीन कर रहा है। उसके कलमी तरुओं एवं नवीन पौधोंके बीज अपनी सन्तति स्थिर करनेमें असमर्थ हैं। इस विकृतको आप पोषित न करें—बस।'

'मूर्ख मानव सचमुच अपना सर्वनाश कर रहा है। उसने ओषधि-बीजका तथ्य ही विकृत कर डाला।' खेद था धराके स्वरमें 'पर सोम, वनस्पतियोंका पोषण तो वे

भगवान् सोम करते हैं, जिनके तुम वनस्पति जगत्में प्रतिनिधि हो !' पोषणमें भला धरित्री क्या करे ?

(३)

'महाराज, कल एक अतिथि हमारे यहाँ ठहरा था ! आज बड़े सबेरे वह चला गया।' गृहपतिके स्वरमें वेदना थी—'तीन भैंसें, चार बैल, दो गायें, तीन बछड़े वह मेरे यहाँ छोड़ गया !' हाथीके बच्चे-से बैल, दूध देनेवाली भैंसें और निकट भविष्यमें बच्चा देनेवाली गायें क्या कोई यों छोड़ जाता है। अपने प्राणोंसे प्रिय पशुओंको किसान जब दो चिटकी भूसा नहीं दे सकता, अपने खूँटेपर बँधे-बँधे मरते कैसे देखे ?

'भाई ! ये तो पशु ही हैं, मैंने सुना है लोग बच्चोंको बेच रहे हैं !' संन्यासीके स्वरमें अपार करुणा थी।

'पापी पेट क्या नहीं कराता !' गृहपतिके नेत्रोंमें आँसू भी नहीं बचे हैं। 'उन बच्चोंको खरीदनेवाले भी हैं। आज भी कोठियाँ अन्नसे भरी हैं। उनके मूल्य बढ़ रहे हैं। भूखोंकी दुर्बलतासे वासना तृप्त की जा रही है, तिजोरियोंका भार बढ़ रहा है। मनुष्यका रक्त ही जब मनुष्यको चाहिए तब परमातमा पानी क्यों दे।'

वृक्षोंकी छाल और पत्तेतक मनुष्योंके पेटमें पहुँच गये। मैदानोंमें तृणके स्थानपर धूलि उड़ रही है। कूड़ेके ढेरों, नालियों और गलियोंमें जब अन्नके एक-एक कण और फलोंके छिलकोंके एक-एक टुकड़ेके लिए मनुष्य कुत्तोंकी भाँति झगड़ रहे हों; पक्षियों, कीड़ों और

पशुओंका जीवन कैसे चले। क्षुधा सर्वभक्षिणी होती है। मानव आज भूखा है। मर रहा है।

यह तीसरा वर्ष है, चतुर्मासके दो महीने बीत चुके। जलकी बूँदतक पृथ्वीपर नहीं पड़ी। नदियोंमें नाममात्रको जल है। ट्यूबवेलके कुओंने साधारण कुओंको पहले ही सुखा दिया था, अब उनमें भी मकड़ियाँ जाले लगा रही हैं। पानी स्तरमें ही नहीं तो यन्त्र क्या करें। सरकारने अनेक योजनाएँ बनायीं—बादल आते तो हवाई जहाज ऊपर उड़कर उनपर बहुत बड़ा हिमखण्ड डालते। पानी बरस जाता। बादल ही जो नहीं आ रहे हैं।

'परमाणु बमके समुद्रमें अंधाधुंध प्रयोगने पृथ्वीपर अति वृष्टि की तीन वर्षोंतक और यह उसकी प्रतिक्रिया है। संन्यासीने कुछ गम्भीर होकर बताया 'थोड़े बहुत बादल उठते हैं तो तटके देश उन्हें बरसा लेते हैं कृत्रिम उपायोंसे। मनुष्य प्रकृतिके साथ बलप्रयोग कर रहा है और वह बदला ले रही है।'

'मेरे गलेमें ये इतने प्राणियोंकी हत्या और अटकी!' गृहपति जानता कि अतिथि अपने पशु छोड़ जायगा तो उसे ठहरनेकी उदारता न दिखलाता। अपने ही प्राणोंके लाले पड़े हैं, इनको क्या खिलाये वह। 'आप संत हैं, प्रभु आपकी प्रार्थना सुनेंगे। हमारी वाणी स्वार्थसे इतनी कलुषित हो गयी है कि उसमें प्रार्थना प्रकट ही नहीं होती!' हृदयमें आस्था न हो तो प्रार्थना हो कैसे।

'वे दयामय सबकी सुनते हैं!' संन्यासी स्वयं भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना करने ही पधारे हैं।

प्राणियोंका इतना कष्ट उनसे देखा नहीं जाता। वे आशुतोष जो उनके आराध्य हैं, वही तो इसे दूर कर सकते हैं। 'आज रात्रि विश्वनाथ मन्दिरमें मेरे रहनेकी व्यवस्था कर देनी है आपको।' पुजारियोंपर जिसका प्रभाव हो, उसीसे यह कहा जा सकता है। अकेले संन्यासीको कौन गर्भगृहमें रहने देता।

'मेरे भगवान् सोया नहीं करते!' संन्यासीका यह समझाना पण्डोंके लिए कदाचित् ही पर्याप्त होता; किंतु उनके साथ जो गृहपति आये हैं! आजकल यों ही मन्दिरकी आय कम हो गयी है। दर्शनार्थी थोड़े-से आते हैं। जो आते भी हैं, जलकी धारा चढ़ाकर गाल बजा दिया और बस। बड़े-बड़े सेठ भी पुष्पोंतक ही रह जाना चाहते हैं। चढ़ावेके लिए बहुत सिर खपाना पड़ता है। ऐसे दिनोंमें एक अच्छे यजमानको रुष्ट कौन करे।

'आप ब्राह्ममूहूर्तकी आरतीके समय निकल जायँगे न?' एक ही आश्वासन आवश्यक था और वह मिल गया।

'वे महात्मा कहाँ गये?' दूसरे दिन प्रातः गृहपतिने भगवान्‌के दर्शनके अनन्तर मन्दिरमें इधर-उधर देखकर पूछा।

'वे तो सबेरे ही चले गये!' पण्डाजीको संन्यासीसे अधिक चिन्ता यजमानकी थी। उनको कुछ विशेष दक्षिणा मिलनी चाहिये, जो प्रबन्ध उन्होंने किया था उसके बदले।

'कदाचित् वे घर गये होंगे।' गृहपतिने मन्दिरके द्वारकी ओर पैर बढ़ाये। 'संन्ध्याको पुनः दर्शन करूँगा।'

'साधुको लज्जित किया हमने !' वे सोचते जा रहे थे। 'या तो वे बहाना बनावेंगे या मिलेंगे ही नहीं।' सचमुच साधु तो उन्हें नहीं मिले; किंतु रात्रिमें बाहर सोनेके लिए उन्हें ऊपरकी छतसे बिछौना नीचेकी छतपर लाना अच्छा जान पड़ा। ऊपरकी छतपर कोई छाया नहीं थी। आकाशमें बादल न होनेपर भी ईशानकोण रह-रहकर चमक रहा था।

(४)

'मुझे थोड़ा शुद्ध घृत चाहिये।' आजकल ग्रामोंमें भी मिलावट चल पड़नेसे विश्वस्त वस्तु कठिनतासे ही मिलती है।

'लोग दाने-दानेको मर रहे हैं और आप पदार्थोंको फूँकेंगे !' आजकी विचारधाराका प्रतिनिधित्व किया गया।

'मैं तुमसे भीख नहीं माँगता।' संन्यासीने कुछ रोषसे कहा।

'आपके पास पैसा भी तो हमारे ही घरोंसे पहुँचता है।'

'डाक्टरोंकी, वैद्योंकी और स्वयं तुम्हारी फीस, जिसे मैंने चिकित्सा सिखायी, जनताका द्रव्य नहीं! वह तो तुम्हारी निजी सम्पत्ति है। उसे तुम शराब और सिगरेटमें फूँकनेको स्वतन्त्र हो और मेरे लिए अग्निमें थोड़ा-सा हवन द्रव्य नष्ट करना हो गया। मैं अपने उपार्जनपर स्वत्व नहीं रखता?' घृणा हुई उन्हें अपने इस श्वेत वस्त्रधारी सुपठित चिकित्सक शिष्यसे।

'आप संन्यासी हैं। आपको द्रव्य नहीं रखना चाहिये।' मनुष्य जब अपनेको विश्वमें सबसे बड़ा बुद्धिमान् मान लेता है तब उसकी बेहयाई सीमातीत हो जाती है।

'तू पहले ठीक गृहस्थ बन और तब उपदेश देना।' वे वहाँसे उठ गये। पूर्वाश्रममें चिकित्सा करते थे। आयुर्वेदका उच्चज्ञान है। किसीको रुग्ण देखनेपर रहा नहीं जाता। ओषधियोंकी घोंट-पीस भी कर लेते हैं। एक पूरा झोला संग रहता है। कोई कुछ दे या न दे, पर जब रोगी कुछ देता हो तब न लेना उसके विश्वासको चञ्चल करता है। इस प्रकार जो संग्रह होता है चार-पाँच महीनेपर उससे एक यज्ञ कर डालते हैं। अपना निर्वाह तो मधुकरीसे ही होता है। इसे व्यसन कहा जाय या और कुछ—पर यह है।

'महाराज! वर्षा कराइये! जीवन दान दीजिये प्राणियोंको।' गङ्गास्नानसे लौटते शास्त्रीजीकी दृष्टि पड़ गयी स्वामीजीपर। उनकी बड़ी श्रद्धा है। जो असाध्य—मरणासन्न रोगियोंको जीवन-दान करनेमें सहज समर्थ हों, वे दैवी-शक्तिसम्पन्न महापुरुष तो होंगे ही।

'चन्द्रदेव रुष्ट हो गये हैं। रसका पृथ्वी और गगन सब कहींसे आकर्षण कर लिया उन्होंने!' भगवान् विश्वनाथके मन्दिरमें साधुने रात्रिमें जो तन्द्राके समय स्वप्न-सा देखा है, बड़ा अद्भुत है वह। 'आज दूध अप्राप्य है, पर भगवती भागीरथीका ब्रह्मद्रव तो उपलब्ध ही है। आप ब्राह्मणोंको एकत्र कीजिए। भगवान् शशाङ्कशेखरका सहस्राभिषेक कीजिये।'

'महाराजका आसन ?' शास्त्रीजीके विनत्राने उल्लास दिया।

'मेरी चिन्ता छोड़िये! ये रुपये ले जाइये! छोटे भाईसे कहिये कि जहाँसे मिले, घी लेकर आ जायँ और उपाध्यायजीको भेज दीजिये। वेदियाँ बनाने और पूजनादिमें समय लगेगा।' मैं तबतक शेष सामग्री संकलित करता हूँ।' साधुको इतनी उमंगका अनुभव कभी यज्ञमें नहीं हुआ था।

'यज्ञ कहाँ होगा?' ग्रामीणोंकी श्रद्धा वाक्योंका मञ्जुल प्रस्तार नहीं कर पाती।

'आप मन्दिरमें अखण्ड धारा चढ़ाइये और मैं नन्दीश्वरके सम्मुख भगवान्के तैजस रूपको आहुतियाँ अर्पित करता हूँ!' गङ्गातटके समीप कगारपर एक छोटा-सा भगवान् शङ्करका मन्दिर है। संन्यासीका संकेत उधर ही था।

'बिल्वपत्र तो यही हैं!' तीनों दल स्पष्ट भी नहीं हुए थे। कुछ हरे-हरे अंकुरमात्र थे। वृक्षोंमें पत्ते ही नहीं तो मिलें कहाँसे।

'यही क्या कम है!' संन्यासी आज पदार्थोंकी बहुलतासे ऊपर है, उनके हृदयमें जो है, वह क्या इन उपकरणोंकी अपेक्षा करता है। अक्षत, धूप, दीप, घृत, नैवेद्य जो मिल सका, आया। इस छोटेसे ग्रामके लिए ऐसे दुर्दिनमें इतना एकत्र करना कैसे शक्य हुआ, यही जानना कठिन है।

'नमः शिवाय च शिवतराय च । नमः शम्भवाय च मयस्कराय च ।'

मन्दिरमें ब्राह्मणोंका कण्ठ अखण्ड गूँज रहा था। बाहर नर-नारी खड़े 'हर हर महादेव' का नाद कर रहे थे। तीसरे पहरके अन्तमें सर्वतोभद्र, नवग्रह, कलशपूजन समाप्त हुआ और अरणिमन्थन प्रारम्भ हो सका।

× × ×

'नाथ, यह हो क्या रहा है? आपने मुझे वचन दिया है!' वनस्पतियोंके राजा सोम चन्द्रदेवके सम्मुख खड़े थे। पूर्णिमाका चन्द्रबिम्ब सघन मेघोंसे पृथ्वीपर अदृश्य हो चुका था।

'भगवान् शङ्करकी धरा एक मूर्ति है!' चन्द्रदेवने बात ढंगसे कही 'उनके विग्रहको मानव अखण्ड अभिषिक्त कर रहा है। उनके अग्नि-विग्रहको आहुतियाँ मिल रही हैं, उनके धरा-विग्रहका गगन धाराभिषेक करने जा रहा है!'

'आपने कहा था कि कृत्रिम वनस्पतियोंको पोषण न देंगे!' सोमके स्वरमें निराशा थी!

'सोम! मुझमें और तुममें भी जो रसरूपसे स्थित होकर सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता है, वह संतुष्ट है। उसकी इच्छाके विपरीत तुम कुछ कर सकते हो?'

'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।' पृथ्वीपर श्रुतिपाठ चल रहा था। कौन है वह सोम? वह तो श्रुति और उसके द्रष्टा ही जानते हैं।

———

जब अग्निको अजीर्ण हुआ

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानः समायुक्तःपचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

'मैं असमर्थ हूँ । आप मेरी अवस्था देख रहे हैं । मुझ-पर कृपा करें !' द्विमूर्धा, त्रिपात्, सप्तजिह्व लोक-विध्वंस समर्थ अग्निदेव कभी असमर्थ भी हो सके हैं, यह बात ही सोचने योग्य नहीं है; किन्तु वे सचमुच असमर्थ हो गये थे । उनका अरुणवर्ण पीला पड़ गया था । शरीर क्षीण हो गया था वे ब्रह्मलोकमें सृष्टिकर्ताके सम्मुख नतशिर, बद्धाञ्जलि खड़े थे ।

'आप मेरे पदपर किसी और लोकपालको नियुक्त कर दें !' अग्निदेवके नेत्रोंमें अश्रु नहीं आया करते; किन्तु वे स्फुलिंगोद्‌गारिलोचन शून्य हो रहे थे । निःश्वाससे अवश्य धूम्र निकल रहा है । 'मेरी रुग्ण दशापर कोई दया नहीं करेगा । किसी भी क्षण कोई ऋषि अथवा ऋषिकुमार शाप दे सकता है—यह भय मुझे अहर्निशि आक्रान्त किये है ।'

बात समझमें आने योग्य है । भारतीय आर्यकुमार भी दैनिक अग्निहोत्रके बिना अपना आह्निक अपूर्ण मानते हैं और जब आज्यसिक्त, शुष्क समिधामें भी धूम्र वमन करने लगे, जब तपःपूत मुनियोंका अरणि-मन्थन भी निर्धूम अग्नि न प्रकट कर सके, जब अथर्वेदीय श्रोतृयके

आह्वानपर भी दक्षिणाग्निकी ज्वाला न उठे, कब तक समर्थ वैदिक ब्राह्मणवर्ग अग्निदेवको क्षमा करता रहेगा ? 'अपनेमें ही कहीं त्रुटि है' यह बात अज्ञजनोंको भ्रममें रख सकती है। कोई सर्वज्ञ ऋषि ध्यान करेगा और क्षणार्धमें घोषित कर देगा—'अग्नि आजकल प्रमादी हो गया है !'

तब ? तब क्या होगा—यह कोई समझ सकता है। एक किसी ऋषि या मुनिका अन्तेवासी छोटा बालक छात्र भी शाप देनेको हाथमें जल ले लेगा तो सृष्टिकर्ता उसे रोक सकेंगे ? महेश्वरमें भी उसके शापको निष्फल करनेकी सामर्थ्य है ?

'वत्स !' चतुर्मुख सृष्टिकर्ताने मस्तक उठाकर म्लान-वदन, पीताभमुख अग्निकी ओर देखा—'तुम्हें कोई शाप नहीं देगा, इससे अधिक आश्वासन देनेमें मैं असमर्थ हूँ।'

'प्रभु ! आप सचराचर जगतके स्वामी हैं !' अनलने अत्यन्त कातर वाणीसे प्रार्थना की—'मैं तप करनेकी अनुमति और उपयुक्त स्थान चाहता हूँ।'

'कोई शाप नहीं देगा' बड़ा आश्वासन है यह; किन्तु किसी रोगीको कोई मारे-पीटेगा नहीं, इतने आश्वासनसे रोगीका काम चलेगा ? उसके वर्तमान कष्टका उपचार भी तो होना चाहिये।

'तुम तप करोगे ?' चौंककर सृष्टिकर्ताने सिर उठाया। 'मैं तुम्हें वर्जित नहीं करता; किन्तु तब तुम्हें कोई शाप नहीं देगा, यह आश्वासन मैं नहीं दे सकता।'

अग्निदेव तप करेंगे—इसका अर्थ ही है कि वे अधिक प्रचण्ड, अधिक ताप एवं दाह उत्पन्न करेंगे। वे कितने भी रुग्ण हैं, उनके तपसे ज्वाला नहीं उठेगी तो क्या धुआँ भी नहीं उठेगा? जब धरा धूम्र कलुषित होगी, प्राणियोंके प्राण संकटमें होंगे, ब्राह्मण उपेक्षा कर देगा इसकी? उस अवस्थामें शापकी सम्भावना बहुत अधिक है, यह बात समझनेमें अग्निदेवको देर नहीं लगी।

'तुमने देववैद्योंकी शरण नहीं ली?' ब्रह्माजीने स्नेहपूर्वक पूछा।

'सर्वप्रथम उनके समीप गया था!' धूम्रध्वज अग्निदेव शिथिल स्वर कह रहे थे—'अश्विनीकुमारोंने मुझे वनके प्राणियोंको भस्म करनेकी सम्मति दी। प्राणियोंके शरीरकी अमेध्य वसा, चर्मादि मेरी औषधि है। धरापर केवल खाण्डव वन उपयुक्त बतलाते हैं वे देव-वैद्य मेरे लिए और देवराज शतक्रतुके संरक्षणमें है वह वन। उनके पयोद वहाँ मेरे पद ही स्थिर नहीं होने देते।'

'अपना ही असंयम प्राणीको रुग्ण करता है।' सृष्टि-कर्ता शान्त स्वरमें बोले—'इस समय तो प्रतीक्षा करो।'

'मेरा असंयम?' अग्निदेव सर्वभक्षी हैं। उनमें जो कुछ डाला जाय, उसे भस्म करना ही उनका काम है। वे जानबूझकर कर्तव्यच्युत हुए नहीं, तब उनका असंयम क्या?

'सबसे बड़ा असंयम है अहंकार।' सृष्टिकर्ताने संकेत दिया—'समस्त शक्ति एवं क्रियाके प्रेरक जो परम पुरुष

हैं, उनके शक्ति-स्रोतसे प्राणी वञ्चित हो जाता है, जब वह शक्ति और क्रियाको अपनी मानने लगता है।'

'ओह!' अग्निने मस्तक झुकाया। आज उनकी समझमें देववैद्योंका सूत्र आया था।

× × ×

महाराज मरुत्‌का यज्ञ चल रहा था। सहस्र-कुण्ड-यज्ञ और अखण्ड आज्यधार सहस्र वर्ष तक उनमें पड़ती रही। लक्ष-लक्ष ऋषि-मुनियोंका श्रद्धा समन्वित सस्वर मन्त्रोंसे अग्नि-स्तवन नभको गुञ्जित करता रहा।

'देव-प्रमुख अग्नि, पुरोहित अग्नि, हव्यवाह अग्नि, यज्ञ-रक्षक अग्नि, धर्मसेतु अग्नि, ओज-तेज-बल-ज्योति-ज्ञानके धारक-पोषक अग्नि!' ऋषिगण विविध रूपोंमें, विविध नामोंसे किसी एक ही परम तत्त्वका स्तवन करते हैं, यह बात अग्निदेवको विस्मृत हो गयी। उनको लगा कि वे स्तोतव्य हैं। उन्हींकी स्तुति तपोधन करते हैं।

'मैं हविका वहन न करूँ तो देवता और पितर दोनों क्षुधाके ग्रास बन जायँ।' अहंकार देवताको भी नहीं छोड़ता। भगवती महामायाने अग्निदेवके ऊपर अपनी छाया डाल दी थी।

'संसारके छुद्र प्राणी!' अग्निदेवको उस समय वे त्रिलोकवन्द्य ऋषि-मुनि भी छुद्र ही लगे। 'ये ठीक ही तो मेरा स्तवन करते हैं। मैं उपेक्षा कर दूँ इनकी—इनका जठर आहार-पाचन ही रोक देगा। इन्हें अपक्व

अन्न भक्षण करना होगा यदि मैं इनके भोजन कक्षका त्याग कर दूँ और इनके जठरमें वह विष बनेगा, यदि उसे वहाँ मैं न पचाऊँ।'

'अग्नि सन्तुष्ट हैं! यज्ञीय ज्वालायें सुप्रसन्न हविष्य ग्रहण कर रही हैं!' महाराज मरुत्के सभी सेवक-परिकर प्रसन्न थे।

'अग्निमीले पुरोहितम्' ऋषियोंका मन्त्रपाठ चल रहा था। 'स्वाहा' तो अग्नि-पत्नी ही हैं। उनका ऐसा अतुलनीय सत्कार हुआ—अग्निदेव परमोत्साहमें आ गये थे उन दिनों।

'यह क्या? यह क्या हो रहा है?' मरुत्का यज्ञ समाप्त हुआ और अग्निका शरीर श्रान्त-क्लान्त शिथिल पड़ने लगा। वे समझ नहीं पाते थे कि उन्हें हो क्या गया है? अब उन्हें उठना-चलना भी भारी पड़ने लगा था। उनके मुखसे ज्वालाके स्थानपर धूम्रराशि निकलने लगी।

'मुझे क्या हो गया है?' अश्विनीकुमारोंके समीप अग्निदेव प्रथम बार उपस्थित हुए थे। वैसे भी अमृतपायी देवता रोगी नहीं होते। युद्धमें असुर उन्हें आहत कर दें, तभी उनका उपचार आवश्यक होता है।

'अजीर्ण हो गया है आपको।' देववैद्योंने नाड़ी देखना भी आवश्यक नहीं माना। 'जब कोई स्वयं भोक्ता बन जाता है, भोग ही उसका भक्षण करने लगता है। आयुर्वेदमें इसीका नाम असंयम है।'

जब तक परमात्मा भोक्ता है और जीव भोग्य है, तब तक असंयम नहीं सम्भव है। तब तक तो प्राणी केवल कर्तव्य-पालक है। तब तक उसके भोग केवल जीवन-निर्वाहके साधन और अखिलात्माके प्रसाद हैं।

'मैं कर्ता' मनमें आया और प्राणी पशु हो गया। अब वह कर्म परतन्त्र हो गया। कर्मके बन्धनमें बँध गया। अब तो कर्म-संस्कार जो करा डालें, वही कम और जन्म-जन्मतक भोगते रहो उनका फल। स्वतन्त्र कर्ता बनने चलोगे तो परतन्त्रता मिलेगी।

'मैं भोक्ता'—बस प्रारम्भ हो गयी इन्द्रियोंकी दासता और इन्द्रिय-दास भला कितने दिन भोगोंका आस्वादन कर सकता है। उसे तो भोग ही भक्षण कर लेते हैं। उसके भाग्यमें रोग लिखे हैं।

अग्निदेव यह सब समझनेकी मनःस्थितिमें उस समय नहीं थे। उन्हें अपने अस्वास्थ्यका कारण नहीं, उपचार चाहिये था। देववैद्योंसे उन्होंने कहा—'आप कुछ कीजिये!'

'औषधि रोगीके उपयुक्त होनी चाहिये।' देव-वैद्योंने दो क्षण मन्त्रणा करके बतलाया—'आप अमित आहारी हैं। अब मरुत्के यज्ञका हविष्य आपके उदरमें अजीर्ण पड़ा है। वह आम रह गया। पृथ्वीपर खाण्डव वन है। उसके वृक्ष, लतायें, औषधियाँ और उसके निवासी पशु-प्राणी सब आपके उदरमें पहुँचे तो आपका अजीर्ण-पाचन हो। आप उस वनको भस्म कर दीजिये। भक्षण कर लीजिये उसे।'

अग्निदेवको उस समय औषधि सरल प्रतीत हुई ; किन्तु जैसे ही उन्होंने खाण्डव वनमें प्रवेश करनेकी इच्छाकी, आकाश मेघोंसे भर गया। अग्निके प्रयत्नको वर्षाकी धाराने प्रारम्भमें ही असफल कर दिया।

'हमारे समीप दूसरी औषधि नहीं है।' देववैद्योंने स्पष्ट कह दिया।

'खाण्डव आजकल मेरे मित्र तक्षकका आवास है ! आप उधर जानेका साहस करेंगे तो मेघमालाएँ आपको क्षमा नहीं करेंगी।' देवराज इन्द्रका सन्देश मिल गया अग्निदेवको।

इतनेपर भी कई बार अग्निने खाण्डव जलानेका प्रयत्न किया। इन्द्रका रुष्ट होना अपने रोगसे अधिक कष्ट-प्रद नहीं हो सकता था ; किन्तु वर्षाकी धारापर अग्निका वश नहीं चलता था। जब कोई मार्ग नहीं रहा, तब अन्तमें ब्रह्मलोक गये अग्निदेव।

× × ×

'मेरा अहंकार तो गल गया !' अग्निदेव ब्रह्मलोकसे लौटे तो सीधे देववैद्योंके समीप गये।

'अभी आपका अजीर्ण तो गया नहीं है।' इस बार अश्विनीकुमारने नाड़ी देखी—'यज्ञीय आज्यधारा उदरमें जम गयी है।'

'ब्रह्मलोकसे मैं धराको देखता लौटा हूँ।' हताश अनल कह रहे थे—'वहाँ अबाध यज्ञ चल रहे हैं। किसी

एक भी यज्ञ कुण्डसे धूम्र नहीं उठता। निर्धूम ज्वाला हवि ग्रहण करती है। धराके प्राणी हृष्ट-पुष्ट प्रसन्न हैं किसीको क्षुधा न लगने और आहारके अपक्व रहनेकी कोई व्याधि नहीं है। जबकि सृष्टि-कर्ताने दूसरा कोई अग्नि निर्माण नहीं किया है।'

'अब आप एक बार फिर धरापर चले जाइये। खाण्डवके पार्श्वमें ही इन्द्रप्रस्थ है। आप वहाँ इन्द्र-पुत्र अर्जुनसे भिक्षा माँगेंगे तो आपको आहारके लिए खाण्डव मिल जायगा!' अश्विनीकुमारोंने एक मार्ग सुझा दिया।

'खाण्डव मिल जायगा!' अग्निको अविश्वास नहीं हुआ। गाण्डीवधन्वा अर्जुन इन्द्र-पुत्र मात्र नहीं हैं, वे नर हैं— नारायणके सखा नर। वे अतिथिको हताश नहीं करेंगे और शक्रकी मेघमालाका प्रतिकार उनके दिव्यास्त्र सहज कर लेंगे।

'आपको वहीं वे मेघसुन्दर भी मिल जायँगे जो निखिल-नियन्ता हैं।' देववैद्यने संकेत दिया—'उनकी विस्मृति ही समस्त रोगोंकी जड़ है और उनकी स्मृति समस्त विपत्तियोंकी निवारक।'

× × ×

'भिक्षां देहि!' अरुणमूर्धज, कराल-लोचन, नील-लोहित वर्ण भयंकराकृति ब्राह्मणने पुकार की ठीक उस समय जब श्रीकृष्ण-अर्जुन भोजन करके ताम्बूल ग्रहण कर रहे थे।

'पधारिये !' अर्जुनने हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

'आप ?' ब्राह्मण दो क्षण निर्निमेष श्रीकृष्णको देखता रह गया।

'हाँ' कमल-लोचनने किञ्चित् स्मितके साथ कहा— 'आप ठीक देख रहे हैं। प्राणी मेरे अंश हैं न। अतः उनके-भक्ष्य, भोज्य, चर्व, चोष्य आहारका आस्वादन-पाचन मुझे करना ही चाहिये। जठरमें स्थित वैश्वानर अन्तर्यामी विश्वात्मा ही है, इसमें आपको आश्चर्य क्यों करना चाहिये। आप धनञ्जयका आतिथ्य स्वीकार करें।'

'पार्थ ! मैं मानव नहीं हूँ। अग्नि हूँ मैं।' स्वयं परिचय दिया देवताने —'तुमसे भिक्षा लेने आया हूँ।'

'आज्ञा करें देव !' विजयको परिचय पाकर आश्चर्य नहीं हुआ। माधव जब उनके समीप हों, कोई भी उनका अतिथि हो सकता है।

'सामान्य भिक्षा मुझे नहीं चाहिये।'

'यह तो आपके परिचयसे स्पष्ट हो गया।' अर्जुनने स्थिर स्वरमें कहा—'आप आज्ञा करें ! मयूर-मुकुटी मेरे सखा मेरे पार्श्वमें हों तो त्रिभुवनमें कुछ अतिथिके लिए मुझे अदेय नहीं लगता।'

'मैं अजीर्ण-पीड़ित हूँ। खाण्डव मेरा आहार बने तो मेरा रोग जाय।' अग्निने स्पष्ट कर दिया 'देवेन्द्र उस महावनकी रक्षा करते हैं।'

'धरापर सुरोंका स्वत्व नहीं है।' अर्जुनने श्रीकृष्णकी ओर देखा। सखाने संकेतसे अनुमति दे दी। 'आप

खाण्डवमें प्रवेश करें। मेरा नन्दिघोष-रथ आपका अनुगमन करता आ रहा है।'

इन्द्रकी मेघमाला व्यर्थ हो गयी। गाण्डीवके शरोंने पूरे वनको अपनी छायामें ले लिया। तक्षक प्राण लेकर भागा और दानवेन्द्र मयके प्राण पार्थकी शरणमें जानेके कारण सुरक्षित रह गये।

'अनेक धन्यवाद!' वनदाह करके स्वस्थ शरीर अग्निदेव अश्विनीकुमारोंके समीप पहुँचे—'मुझे आपने औषधि ही नहीं दी, यह भी समझा दिया कि मैं केवल हविका वाहक—सेवक मात्र हूँ। वैश्वानर तो विश्वात्मा हैं!'

स्मृति-विस्मृति-दाता

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥ १५ ॥

'रघुनाथसिंहजी दिनभर क्या करते हैं ?'

'यह आप उससे ही पूछें। पता नहीं क्या लिखता रहता है।'

'लिखते रहते हैं ?' मैं चौंका—'मैंने तो सुना है कि उन्हें शिक्षा नहीं मिली है।'

'आपने ठीक सुना है।' रघुनाथसिंहके बड़े भाईने बतलाया—'दूसरी कक्षामें अध्यापकको छड़ीका उसे ऐसा डर लगा कि पाठशालासे भाग आया। सबसे छोटा है। माताजीने कह दिया कि मेरा बेटा बिना पढ़े कोई भूखा रहनेवाला नहीं है।'

उन दिनों जमींदार-जागीरदार घरोंमें बच्चे कम ही पढ़ाये जाते थे। ये लोग बहुत सम्पन्न थे, अतः एक लड़केको शिक्षा न दी जाय यह बात उनके पिताको भी ठीक लगी। घर-खेत सम्हालनेवाला भी तो कोई चाहिये।

'तब फिर पढ़ा कब इन्होंने ?' जो दिनभर कुछ लिखता रहता है, वह पहिली कक्षाके अक्षरज्ञानसे ही तो नहीं लिख सकता।

'पढ़ता कब' बड़े भाईने बतलाया—'किसीके समीप बैठना उसे बचपनसे अच्छा नहीं लगता। पुस्तकें उसकी समझमें आती नहीं हैं।'

'फिर भी वे लिखते रहते हैं—दिनभर लिखते हैं?' बात कुछ समझमें आ नहीं रही थी।

'आप आज अवकाशमें हैं, उससे मिल लें।' बड़े भाई न्यायालय में रजिष्ट्रार हैं। मेरे परिचित हैं, इसलिए आज सबेरे ही उनसे मिलने चला आया था। अब दस बजनेवाले थे। वस्त्र पहिनते हुए उन्होंने कहा—'मुझसे वह संकोचके कारण कुछ नहीं बतलाता। आपको पता लगे कि वह क्या लिखता है तो मुझे भी बतलाइये। मुझसे तो कभी-कभी कागज, स्याही अथवा निब माँगता है। वह मैं दे देता हूँ।'

रजिष्ट्रार साहब सपरिवार नगरमें नहीं रहते। स्त्री-बच्चे उन्होंने अपने गाँवमें ही छोड़ रखे हैं। यहाँ केवल छोटा भाई साथ रहता है। वही रसोई बनाता है, बर्तन मलता है, घर-बाजार सम्हालता है। बड़े भाईका वह सेवक है, अभिभावक है।

बाजारसे आवश्यक सामान लाने मात्रके लिए रघुनाथसिंह घरसे निकलते हैं। घरमें ही क्या कम काम होता है। बड़े भाईको भोजन कराके, स्वयं भोजन किया और लग गये सफाईमें। चौका-बर्तन और कपड़े भी धोने रहते हैं।

कुल दो आदमी हैं। उसमें भी रघुनाथसिंहका अपना ढंग बहुत सादा है। अतएव घरके कामसे समय बहुत

बचता है। कोई व्यसन है तो इतना ही कि दिनभर कुछ लिखते रहते हैं। अन्यथा खाने-पहनने, देखने-सुनने जैसी कोई उत्कण्ठा उनमें मानो है ही नहीं। नगरमें रहकर भी उनका संसार उस छोटेसे घरके भीतर सीमित है।

रघुनाथसिंहने पढ़ा नहीं और विवाह भी नहीं किया। दोनों अवसरोंपर वे भाग खड़े हुए। पढ़नेकी बात आई तो कह दिया—'भैया पढ़ तो रहे हैं।'

इसी प्रकार विवाहकी बात उठी तो कह दिया—'भैयाके बच्चे क्या मेरे बच्चे नही हैं?'

घर-खेतीमें इनकी कोई रुचि नहीं है। कहीं खेत-खलिहानपर लगा दो तो श्रम करेंगे डटकर; किन्तु दूसरे मजदूरोंकी देख-रेख इनके वशकी बात नहीं। गाँवके लोग इसीसे इन्हें 'जड़ भरत' कहते हैं।

बड़े भाईका बहुत सम्मान करते हैं। बड़े भाईको भी इनके समीप रहनेसे बहुत सुविधा है। घरकी चिन्ता ही नहीं करनी पड़ती। अतः नगरमें बड़े भाईकी सेवामें ही रहते हैं।

× × ×

'रघुनाथसिंहजी! आप क्या लिखते हैं, यह मैं देख सकता हूँ क्या?' बड़े भाईके न्यायालय चले जानेपर मैंने पूछा।

'आप थोड़ी देर बैठें तो मैं खाली हुआ जाता हूँ।' उन्होंने बहुत सरलतासे कह दिया। मैं रजिष्ट्रार साहबके

संग्रह्से एक पुस्तक लेकर बैठ गया और वे लग गये अपने चौके-बर्तनको समेटनेमें।

'अब आइये!' लगभग घण्टेभर पीछे उन्होंने मुझे बुलाया। मैं उनकी कोठरीमें गया और आश्चर्यसे देखता रह गया। ढेर लगा था कागजोंका। भूमिपर केवल एक कम्बल बिछाकर वे सोते हैं। वही उनके बैठकर लिखनेका आसन है। न पलंग—न गद्दा, न तकिया—न चादर और लिखनेके लिए कोई डेस्क तक नहीं। भूमिपर कागज रखकर झुककर ही लिखते होंगे। मेरे बैठनेको कुर्सी उठाने जाने लगे तो मैंने उन्हें रोक दिया। मैं उनके कम्बलपर बैठा और वे भूमिपर बैठ गये। मेरे बहुत कहनेपर भी कम्बलपर बैठना उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

'यह सब क्या है?' मैंने एक दो कापियाँ उठाकर उलट-पलट डालीं। अक्षर सुन्दर नहीं थे; किन्तु स्पष्ट थे। प्राथमिक कक्षाके विद्यार्थी जैसे ही अक्षर थे; किन्तु कहीं काट-कूट, लीपा-पोती उसमें नहीं थी। जैसे लिखनेवाला अपने विषयको स्पष्ट समझता है और बिना झिझक लिखता चला जाता है। उसे संशोधनकी आवश्यकता नहीं पड़ती है।

भाषा ग्रामीण थी। शब्द भी ग्रामीण थे और बहुत कम बात समझमें आती थी। पढ़कर लगता था कि लिखने वाला जो कुछ कहना चाहता है, उसे कहनेके लिए उसके समीप शब्द नहीं हैं, वह इधर-उधरके अपने जाने शब्दोंको प्रचलित अर्थोंसे भिन्न किन्हीं अर्थोंमें प्रयोगकर रहा है।

'शून्य सागर' मेरे पूछनेपर रघुनाथसिंहने अपने उस महाग्रन्थका नाम बतलाया।

'आप थोड़ा समझावेंगे मुझे।' मैंने अनुरोध किया और एक कापी उनके हाथमें देदी।

'ईश्वर है—शून्य जैसा है अर्थात् उसका रंग कोई नहीं है। उसके हाथ-पैर भी नहीं हैं। वह सब कहीं है। वह होकर भी नहीं है।' रघुनाथसिंहने एक पृष्ठका भाव समझाया।

'अब इस कापीसे' मैंने उनके हाथमें दूसरी कापी पकड़ा दी।

'कुल बोली है। क्या बोली है, बोलकर नहीं कहा जा सकता। उसे सुनते रहें तो देहमें जो प्राणका प्राण है वह ऊपर-ऊपर—सिरके ऊपर भी जाता है और वहाँ जो सुख है—बस सुख ही सुख है। देहमें ६ भँवर हैं। छः भँवरोंको पार करके वह ऊपर सातवेंसे भी ऊपर जा बैठे तो बस! फिर जन्म-मरण नहीं है।'

उन्होंने कुछ व्याख्या करके, कुछ संकेतों द्वारा समझानेका प्रयत्न किया। जो मैं समझ सका, वह मैंने ऊपर दिया है।

'आपने किसका सत्संग किया है?' मैंने पूछा; क्योंकि स्पष्ट ही ये विचार निर्गुण-मार्गीय संतोंके थे और इन कापियोंमें शब्द-साधना, कुण्डलिनी-जागरणकी विस्तृत चर्चा ही नहीं थी, सृष्टि-प्रलयका भी वर्णन अपने ढंगसे था।

'ऐसा सौभाग्य कहाँ! गाँव रहा या यहाँ आगया। संत मिलते तो भगवन्त ही न मिल जाते।' वे अद्भुत

ढंगसे बोले—'इन कागजोंको तो मैं अपने संतोषके लिए काले करता हूँ। जीवनमें पहिली बार आपने इन्हें देखा है।'

'आपको अपने पूर्वजन्मका स्मरण है?' मैंने दूसरा अनुमान लगाया।

'नहीं तो!' वे सरल भावसे बोले।

'तब आप यह सब कैसे जान गये? कैसे लिखते हैं यह सब?' मैंने पूछा।

'यह सब ठीक नहीं है क्या?' बड़े भोलेपनसे पूछा उन्होंने—'मैं तो कलम लेकर बैठ जाता हूँ। लगता है कि जो भीतर परमात्मा बैठा है, वही यह लिखवाता है। वही बतलाता है। आप विद्वान् हैं, आप बतलाइये कि यह मैं कहीं व्यर्थ तो नहीं सोचता। मैंने यह सब गलत-सलत ही तो नहीं लिखा है। वैसे मैं ये सब कागज गंगाजीमें ही डालनेवाला हूँ।'

'सबके हृदयमें परमात्मा विराजमान है।' मैंने उनसे कहा—'वह जब किसीको स्मृति और ज्ञान देने लगता है, उसका दिया ज्ञान गलत-सलत तो हो नहीं सकता। वैसे आपके ये कागज दूसरे किसीके कामके नहीं हैं। इनकी भाषाको समझना दूसरेके वशकी बात नहीं।'

× × ×

'रघुनाथ तीन दिनसे कुछ खाता-पीता नहीं है।' मुझे अचानक रजिष्ट्रार साहबका सन्देश मिला—'वह

बराबर रो रहा है। पूछनेसे कुछ बतलाता नहीं। आप एक दिनके लिए आ जाइये !'

मैं सन्देश पाकर नगर आ गया। रजिष्ट्रार साहब बहुत उदास दीखे। अपने छोटे भाईसे उनका बहुत प्यार है। बोले—'वह पागल तो नहीं हो गया है। अस्पताल चलता नहीं है। वैद्यजी को बुलाया था; किन्तु वे कोई रोग नहीं बतला सके।'

मैंने रघुनाथसिंहको देखा। वह स्वस्थ युवक सूखकर आधा रह गया था। नेत्र उसके रोते-रोते सूज आये थे और लाल हो रहे थे।

'मेरा अपराध क्या है?' मुझे देखते ही उन्होंने मेरे पैर पकड़ लिये और फूट-फूटकर रोने लगे। 'मैं मर जाऊँगा।'

'हुआ क्या है?' मैंने रुदनका वेग कुछ कम होनेपर पूछा।

'मैंने इतना लिखा है और मैं ही भूल जाता हूँ।' रघुनाथ फिर रोने लगे—'मुझे परमात्मा भूल जाता है और इधर तो जब बैठता हूँ, मुझे न वह शब्द सुनायी पड़ता, न कोई स्फुरणा लिखनेके लिए कलम लेकर बैठनेपर होती। ईश्वरने मुझे त्याग दिया है!'

'क्या ईश्वर अब सर्वव्यापी नहीं रहा?' मैंने पूछा।

'सर्वव्यापी तो वह है।' रघुनाथसिंह भरे नेत्रोंसे मेरा मुख देखने लगे थे।

'तब उसने तुम्हें त्याग कैसे दिया? तुमको त्यागकर वह सर्वव्यापी कैसे रह सकता है?'

'मेरी उपेक्षा करदी उसने।' वे फिर रोने लगे।

'तुम्हारे हृदयमें अब परमात्मा नहीं है? वह क्या किसी प्राणीके हृदयका कभी त्याग करता है? अरे, वह तो सबके हृदयमें जमकर बैठा है।'

'लेकिन..........।'

'पहिले मेरी बात सुनो।' मैंने उन्हें बोलने नहीं दिया। 'तुमको वह ज्ञान, वह स्मृति कौन देता था?'

'परमात्मा; किन्तु अब.......'

'अब यह विस्मृति वह नहीं दे रहा है?' मैंने बीचमें ही उन्हें फिर बोलनेसे रोका—'जो हृदयमें बैठकर स्मृति देता है, ज्ञान देता है, विस्मृति वह नहीं देगा तो विस्मृति देने कोई शैतान आवेगा?'

'वही विस्मृति देता है?' दो क्षण वे स्तब्ध हो गये। जैसे समस्त चेतना धक्का देकर भीतर ढकेल दी गयी हो।

'वही विस्मृति देता है?' अब कैसे वर्णन करूँ उनकी दशाका। उनके दोनों नेत्रोंसे झर-झर आँसू झर रहे थे; किन्तु ये अतिशय हर्षके आँसू थे। उनका रोम-रोम हर्षसे खिला पड़ रहा था। किसी सूखे वृक्षमें जैसे सहसा नवपल्लव निकल आये हों अथवा किसी पिताको इकलौते पुत्रकी मृत्युका समाचार मिले और फिर वह पुत्र अचानक स्वयं पिताके सम्मुख आ जाय।

'वही विस्मृति देता है!' वे बार-बार यह बोलते रहे कुछ क्षण और तब उनका शरीर शान्त, स्थिर हो गया।

'क्या हुआ ?' रजिष्ट्रार साहब अचानक उनके कमरेमें मेरे पीछे आये।

'आप धन्य हैं' मैंने उनसे कहा और उनको लेकर कमरेसे बाहर आ गया। 'आपके भाई बहुत उच्चकोटिके साधक हैं और अब वे संत हो जायँगे। उन्हें बैठे रहने दीजिये। वे कुछ घण्टोंमें उठेंगे तो स्वस्थ मिलेंगे।'

'वह स्वस्थ हो जाय' रजिष्ट्रार साहबको इतना ही पर्याप्त था। रघुनाथसिंहके साधक या संत होनेमें उनकी अभिरुचि नहीं थी।

मैं लौट आया। सोचता हूँ—'यह सबके हृदयमें जो आसन जमाकर बैठा है, कितना नटखट है। यह स्मृति देता है, ज्ञान देता है, किन्तु सबको विस्मृति—माया भी तो इसीने दी है।'

वेदवेद्य

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥'

'श्रुतिका तात्पर्य केवल यज्ञमें और देवताओं तथा यजमानके स्तवनमें है?' अनेक दिनोंके मनोमन्थनके पश्चात् मुनिपुत्र ऋतने महर्षि जैमिनीसे प्रश्न किया था।

प्रातःकालीन हवन एवं वेदपाठ समाप्त हो गया था। आवहनीय यज्ञ-कुण्डसे सुरभित धूम्र उठ रहा था। दिनके इस द्वितीय प्रहरमें जब आश्रमके अन्तेवासी आश्रमकी दैनिक सेवा भी सम्पूर्ण कर लेते हैं, मध्याह्न सन्ध्यासे दो घड़ी पूर्व महर्षि यज्ञशालामें वेदिकापर विराजते हैं। यह छात्रोंकी जिज्ञासाका काल है।

पूर्व-मीमांसाके प्रवर्तकके इस आश्रममें नाना यज्ञानुष्ठानोंकी चर्चा होती है। देवताके स्वरूप, शक्ति, मन्त्रके स्वर एवं कर्म-पद्धतिकी सूक्ष्मतम व्याख्या होती है। ओजस्, क्रिया एवं स्फूर्तिकी मूर्ति मानो महर्षि जैमिनीका रूप है और असीम-अगाध है उनका मन्त्र-शक्ति एवं कर्म-प्रस्तारका ज्ञान।

यह आश्रम शुद्ध विप्र-कुमारोंकी अध्ययनशाला है। यज्ञशास्त्रके व्याख्याताके यहाँ कोई क्षत्रिय अथवा वैश्य कुमार आकर क्या करेगा। क्रियाकी पद्धतिका व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक प्रशिक्षण चलता है यहाँ। कोई नरेश

अथवा धनाधीश आवेगा तो याचक होकर आवेगा। अपने किसी संकल्पित यज्ञकी सम्पूर्तिके लिए आचार्य, अध्वर्यु, उद्गाता, होतादिकी याचना करेगा महर्षिके चरणोंमें।

विप्रकुमारोंमें भी प्रायः सब प्रकाण्ड कर्माचार्यों, राजपुरोहितके पुत्र हैं। तृतीय पुरुषार्थ धर्मके भी जिज्ञासु हैं कुछ। लेकिन मुनि-पुत्र ऋत प्रारम्भसे अपने सह-पाठियोंसे भिन्न है। उसे श्रुतिको कण्ठस्थ करने एवं सस्वर पाठके अभ्यासमें रुचि नहीं है। वह श्रुतिके अर्थ-चिन्तनमें गुमसुम बैठा रहनेवाला विद्यार्थी है।

'हमारा ऋत मन्त्र-द्रष्टा ऋषि बनेगा!' प्रायः अन्तेवासी उसे चिढ़ाते हैं। 'द्वापरान्तमें भी कोई ऋषि होना चाहिये।'

'वेदोंका तात्पर्य यज्ञ करके स्वर्ग जाना है' यह बात अनेक बार ऋतने सुनी है; किन्तु जो स्वभावसे बीतराग है, उसे इसमें कोई महत्ता नहीं जान पड़ती। स्वर्गका अमृत-आस्वादन और अप्सराएँ—नहीं, श्रुति क्या इस तुच्छ अर्थकामका प्रतिपादन करनेमें ही प्रवृत्त है।

आज अपने अन्तरको उन्मथित करनेवाला प्रश्न आचार्यके सम्मुख उसने उपस्थित किया। उसके सहपाठी हँस पड़ते, यदि स्वयं आचार्य सम्मुख न होते। महर्षिने दो क्षण स्थिर दृष्टिसे उसकी ओर देखा और फिर मस्तक झुका लिया।

'वत्स!' बहुत ही स्नेह था स्वरमें—'प्रत्येक व्यक्तिकी एक कक्षा होती है और उस कक्षाका एक शिक्षक

होता है। तुम उस कक्षाके छात्र नहीं हो, जिसका मैं प्राध्यापक हूँ।'

'भगवन्!' उसके नेत्र भर आये। वह आर्त हो उठा। क्या प्रश्न करके उसने ऐसा अपराध किया है कि उसे गुरुदेव आश्रमसे ही निष्कासित कर दें?

'आर्त मत बनो!' महर्षिके स्वरमें वात्सल्य स्वयं बोल रहा था—'मेरे गुरुदेव भगवान् व्यास ब्रह्मसूत्रोंके निर्माता हैं। श्रुतिका तात्पर्य क्या है, यह वे वेदके वर्गीकरणकर्ता साक्षात् नारायणके अवतार ही तुम्हें ठीक-ठीक समझा सकते हैं। तुम्हारा मंगल हो!'

आशीर्वादके अनन्तर तो कहनेको कुछ रह नहीं जाता। उसी दिन मध्याह्न सन्ध्या करके वह महर्षि जैमिनीके आश्रमसे विदा हुआ। उसे पता था कि भगवान व्यास इन दिनों अपने शम्याप्रास (बदरीनाथ) के आश्रमको छोड़कर भारतके पश्चिमी प्रान्तमें—धर्मारण्यके एक भागमें, नर्मदाके द्वीपमें रहने लगे हैं।

× × ×

'नारायण परा वेदाः नारायण परो मखः।'

व्यासाश्रमकी सीमामें ऋत पहुँचा और उसे अपने प्रश्नका उत्तर अकस्मात् मिल गया। भगवान् व्यासके शिष्य वनमें समिधाएँ एकत्र करने आये थे। उनमें-से किसीका उदात्त स्वर श्रवणमें पड़ा उसके।'

'भगवन्! आप साक्षान्नारायणके अवतार हैं! श्रुति जिनका निःश्वास है, उनके अतिरिक्त श्रुतिका ठीक

तात्पर्य दूसरा कौन जान सकता है ! यह असित गोत्रीय ऋत श्रीचरणोंमें प्रणत है !' मुनिकुमारने स्तवनके अनन्तर साष्टांग प्रणिपात किया।

भगवान व्यासने स्नेहसे उसके मस्तकपर अपने अमृतस्पन्दी करका स्पर्श दिया। उनका मेघ गम्भीर स्वर गूँजा—'वत्स ! श्रुतिके जो परम प्रतिपाद्य हैं, वे वेदवेद्य श्रीहरि स्वयं आजकल धराको धन्य करते हैं। उनके श्रीचरणोंमें तुम्हारी भक्ति हो !'

'वे श्रीहरि धराको धन्य करते हैं ?' ऋत दो क्षण सोचता रहा। उसने बहुत धीरेसे, जैसे अपनेसे ही कह रहा हो, कहा—'वेदान्तके कर्ता क्या स्वयं वेदवेद्य नहीं हैं ?'

'वेदान्तके कर्ता स्वयं श्रीहरि हैं !' इतना मञ्जुल, इतना श्रुति-मधुर हास्य होता है, जीवनमें ऋतको प्रथम प्रतीत हुआ। प्रलम्ब काम, धबलश्मश्रु केश, कमलदल विशाल लोचन, आजानु लम्ब दीर्घबाहु भगवान व्यास बड़े स्नेहसे उसे समीप बैठाकर कह रहे थे—'यह कृष्ण द्वैपायन वेदान्तका कर्ता नहीं है वत्स ! यह तो ब्रह्मको— वेदकी श्रुतियोंको केवल सूत्रबद्ध करने वाला है। वेदान्त तो ज्ञान है और ज्ञानका कर्ता कोई व्यक्ति नहीं होता। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है।'

'लेकिन प्रभुने अभी कहा है कि वे श्रीहरि धराको धन्य कर रहे हैं।' ऋतने बहुत डरते-डरते शंका उपस्थित की। प्रश्न करनेके कारण महर्षि जैमिनीने उसे अपने आश्रमसे विदाकर दिया था। कहीं उसका प्रश्न यहाँ भी उसके लिए अभाग्य न बने।

‘श्रीकृष्ण व्यक्ति नहीं हैं !’ भगवान व्यास दो क्षण ध्यानस्थ हो गये। ‘तुम विश्राम करो और आज आश्रमके अभ्यागतका हमें सत्कार करने दो !’

‘मैं श्रीचरणोंमें शरणकी आशासे आया हूँ।’ ऋतने चरणोंपर मस्तक रख दिया। उसके नेत्र-बिन्दु उन भुवन पावनके पादपद्म प्रक्षालित करने लगे।

‘तुम्हारी जिज्ञासा अपने आपमें तुम्हें परिपूर्ण करती है। किसीका अन्तेवासी होनेकी आवश्यकता तुम्हारे लिए नहीं है।’ भगवान व्यास सस्नेह समझा रहे थे—‘श्रुतिके परम तात्पर्यका जिज्ञासु उन वेदवेद्यका स्वजन होता है। जीवने जन्म जन्मार्जित पुण्योंका उदय होता है, तब उसके हृदयमें जिज्ञासा जागती है।’

‘मैं आशा लेकर श्रीचरणोंमें उपस्थित हुआ था।’ ऋत कुछ समझ नहीं पा रहा था। वह कातर प्रार्थना ही कर सकता था। उसने महर्षि जैमिनीसे सुना था कि महाभारतकी रचनाके समय भगवान व्यास बीच-बीचमें ऐसे कूट श्लोक कह देते थे, जिनका अर्थ समझनेके लिए बुद्धिके देवता गणेशजीको भी कुछ क्षण लेखनी रोककर मनन करना पड़ता था। उन ऋषि-मूर्धन्य, निखिल शास्त्रमूर्तिका तात्पर्य वह क्या समझ सकता था।

‘मुझे भी हस्तिनापुरकी यात्रा करनी है।’ भगवान व्यासने कहा—‘तुम साथ चल सकते हो। श्रीकृष्णके चरणोंमें पहुँचकर सबकी आशा सफल सार्थक होती है। सृष्टिमें दूसरा कोई किसीकी आशाका अवलम्ब बना नहीं करता। अज्ञानवश ही जीव अन्यसे आशा करता अथवा अपनेको अन्यकी आशाका अवलम्ब मानता है।’

ऋतकी समझमें केवल इतनी बात आयी कि उसकी यात्रा समाप्त नहीं हुई है। उसे इससे कोई असन्तोष नहीं हुआ। भगवान् व्यासने स्वयं उसे यात्रामें साथ चलनेकी अनुमति दी है, यह कम सौभाग्यकी बात नहीं है। देवाधिप जिनका अनुगमन करके सनाथ हो सकते हैं, वह उनकी सेवामें स्वीकृत तो हुआ।

× × ×

'हम सीधे कुरुक्षेत्र चलेंगे!' हस्तिनापुरसे एक योजन पूर्व ही भगवान् व्यासने मार्ग परिवर्तन किया। वे इन्द्रप्रस्थको भी एक ओर छोड़कर आगे बढ़े थे।

'कुरुक्षेत्रमें क्या है?' ऋतके मनमें अनेक बार यह प्रश्न उठा। इसलिए उठा कि मार्गमें उसका यात्री दल बढ़ता चला गया। दिशाओंसे मुनियों-ऋषियोंका समूह जैसे एक साथ चल पड़ा है कुरुक्षेत्रकी ओर। कोई ऋषि या मुनि मिलते हैं सशिष्य भगवान् व्याससे तो अनेकोंके आगमनका समाचार देते हैं। स्वयं तो साथ हो ही लेते हैं।

कुरुक्षेत्र—ऊपर उड़ते गृद्ध और चीलें, रक्ताक्त भूमि, एक असह्य गन्ध चारो ओर योजनों तक फैली हुई। यद्यपि शव अथवा शव-खण्ड अब कहीं नहीं है; किन्तु धरा-रक्तसे नील-लोहित हो रही है। रक्त सूखकर काला पड़ गया रक्त और असंख्य भग्न रथ, आयुधोंके पूर्ण-अपूर्ण खण्ड।

इस युद्ध भूमिकी पूयगन्ध और रक्त कलुषित धराकी ओर जैसे ऋषि-मुनियोंका ध्यान ही नहीं है। सब एक ही दिशामें तीव्र गतिसे बढ़े जा रहे हैं।

'ओह !' ऋतने दूरसे एक ज्योतिपुञ्ज आते देखा। समीप आनेपर उसे जो दृष्टि पड़ा, स्तब्ध रह गया वह। अङ्ग-अङ्ग नहीं —रोम-रोम शरोंसे विद्ध, शरोंकी शय्या-पर पड़ा एक भग्न कवच, महाप्राण तपःपुञ्ज—जैसे कोई अमर सुरपुरसे धरापर उतरकर यह अकल्पनीय तपकर रहा हो। ऋतने सुन लिया है कि ये भी गङ्गातनय भीष्म हैं। उसका मस्तक श्रद्धासे झुक गया। उसका हृदय - लेकिन इतने गुरुजनोंकी उपस्थितिमें भीष्मको कोई आशीर्वाद वह कैसे दे सकता है। शर-शय्यापर, आपाद मस्तक वाणविद्ध पड़ा जो महाप्राण जीवन एवं मनोबल स्थिर बनाये है, उसे ही भला ऋत जैसे सामान्य ब्राह्मणकुमारके आशीर्वादकी अपेक्षा कहाँ है।

'सम्राट् युधिष्ठिर पधार रहे हैं!' सहसा ऋषि-मुनियोंका समुदाय उठ खड़ा हुआ।

'युधिष्ठिर धर्मराज हैं; किन्तु क्या ऋषिगण उन्हें अभ्युत्थान दें, यह उचित है?' ऋतके मनका प्रश्न अपने आप शान्त हो गया जब उन रथ-समूहोंमें-से एक वानरध्वज रथ आगे आया और उससे मयूरमुकुटी, वनमाली, नवघन सुन्दर ज्योति धरापर कूदी। धन्य हो गये नेत्र और उसीके श्रीचरणोंमें स्थिर हो गये।

'पितामह! वासुदेव श्रीचरणोंकी वन्दना करता है और आपके ये कृपापोष्य पौत्र पाण्डुपुत्र भी!' उन मयूरमुकुटीने चरणोंके समीप खड़े होकर भीष्मको देखा। 'ये सम्राट् युधिष्ठिर आपके श्रीमुखसे कुछ धर्म-रहस्य सुनना चाहते हैं।'

'वासुदेव !' भीष्म गद्गद् स्वर कह रहे थे। 'मेरा शरीर वाणोंकी व्यथासे जल रहा था। मेरा चित्त आकुल अस्थिर हो रहा था; किन्तु तुम्हारी दृष्टि पड़ी—लगता है मैं पुष्प शैय्यापर पड़ा हूँ। मेरे सर्वाङ्गमें चन्दनका लेप लगा है। मेरा चित्त स्थिर है। मेरी बुद्धि शान्त है। तुम्हारी दृष्टिमें क्लेश-ताप-पाप रह कैसे सकते हैं।'

'वत्स युधिष्ठिर !' दो क्षण रुककर वे परम धर्मज्ञ बोले—'श्रुतिका रहस्य—धर्मका ठीक-ठीक तात्पर्य केवल श्रीकृष्ण जानते हैं। ये सम्मुख उपस्थित हैं। ये अपनी कृपासे मेरी बुद्धिको प्रकाशित कर रहे हैं, अतः इस समय धर्म मेरी बुद्धिमें पूर्ण प्रकाशित है। श्रुतियाँ अपना परम-तात्पर्य स्पष्ट कर रही हैं। इनकी इच्छा है कि मैं उपदेश करूँ—इनकी उपस्थितिमें मैं उपदेश करूँ यह उचित नहीं है; किन्तु ये चाहते हैं, इनकी आज्ञा है, अतः तुम पूछो।'

अनेक दिनों तक चलता रहा वह दिव्य उपदेश। समस्त आगत ऋषि-मुनियोंकी सम्यक् व्यवस्था सम्राट्ने करदी। प्रातः सायंके दैनिक कृत्य करके सब आ बैठते थे भीष्मको शर-शैय्याको घेरकर। देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि सभी थे सब श्रोता थे और शर-शैय्यापर पड़े भीष्मकी वाणीसे जो अबाध ज्ञानधारा प्रवाहित हो रही थी, सबको धन्य-धन्य कर रही थी वह।

'श्रीकृष्ण ही वेदके ठीक-ठीक तात्पर्यको जानते हैं।'

'श्रीकृष्ण ही वेदोंके परम प्रतिपाद्य वेदैक-वेद्य परम-पुरुष हैं।'

'श्रीकृष्णही वेदान्तकर्ता-वेदान्तस्वरूप चिद्घन हैं।'

बार-बार भीष्मने यह बात कही। बार-बार ऋषि-मुनि परस्पर यही चर्चा करते हैं।

ऋतके प्राण, ऋतका मन, ऋतकी बुद्धि--उसे अब कुछ जानना नहीं। कुछ सुनना नहीं। भीष्म क्या कहते हैं, वह सुन नहीं पाता। उसके नेत्र लगे होते हैं भीष्मके पदोंके समीप खड़े मयूरमुकुटीकी ओर। उसका मन जपता रहता है--'श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण!'

क्षर और अक्षर

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणिभूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

बात तीन सहस्त्र वर्ष पूर्वकी है, कौन कह सकता है कि तीन सहस्त्र वर्ष पश्चात् जब परमाणु बम या उसके उत्तराधिकारी ध्वन्सकास्त्र विश्वके नगरोंको ध्वस्त करके यन्त्र निर्माण अशक्य कर देंगे, वही स्थिति नहीं आजायगी।

वह उष्ण कटिबन्धके समुद्री द्वीपका निवासी है। उष्णता और समुद्री वायु उसके यहाँ कोई वस्तु स्थिर नहीं रहने देती। सब पदार्थ शीघ्र सड़ जाते हैं। वह ग्राम्य-सरल-पुरुष क्या जाने कि वस्तुओंको दीर्घकाल तक सुरक्षित रखनेके प्रयोग भी हैं। 'यह कुष्माण्ड—यह तो सप्ताहों तक नहीं सड़ता। मैं जब पूरी नौका भर कुष्माण्ड अपने देश ले जाऊँगा, लोग कितने प्रसन्न होंगे। मुझे एक-एक कुष्माण्डके विनिमयमें बहुत पदार्थ मिलेंगे।' वह नहीं जानता कि उसके यहाँ ये फल भी सड़ जायेंगे।

ग्राममें वस्तुओंका विनिमय वस्तुओंसे होता है। मूंगे, कौड़ियाँ और गुंजा वहाँके सिक्के हैं और वे किसी-किसी के पास ही सौ पचास मिलते हैं। स्वर्ण भी होता है, यह उसे पता नहीं। वह अपने ग्रामसे बाहर पहिले कभी नहीं गया था। व्यर्थ घूमना पसन्द नहीं था। वह इतना

धनवान हो जाय कि दो सौ कौड़ियाँ ले सके तो अपनेको सफल मानेगा ।

समुद्रमें वात्याचक्र आया और जलस्तम्भ (समुद्रीय बवंडर) उठा । लोग कहते हैं इतना बड़ा जलस्तम्भ सौ वर्षोंके पश्चात् उस द्वीपपर आया था । उसने झोंपड़ियाँ बहा दीं । मसालेके वृक्ष उसके जलसे सूख गये । धानके खेतोंमें एक तिनका न बचा । सब उखाड़ दिया उस जल-दैत्यने । उसके ग्रामके कितने पशु कितने प्राणी मरे— कौन कह सकता है । वह स्वयं खेतमें काम कर रहा था । बड़ी भयङ्कर घरघराहट सुनायी पड़ी और फिर तो भागनेको भी अवकाश नहीं था । वह तो कुशल हुई कि मोटे वृक्षकी एक सुदृढ़ जड़ पकड़नेमें समर्थ होगया ।

आज भी उस समयके स्मरणसे रोमांच हो जाता है । हाथ अब छूटा—अब छूटा , शरीरके जोड़-जोड़ उखड़े जा रहे थे । प्राण हाथोंमें आ गये थे । वह क्षार जल कान , नाक , नेत्र सबमें भर गया और जैसे शरीरको कोई मत्त गज झकझोर देता हो । कुछ क्षण ही लगे , पर जैसे युग बीत गया हो । जैसे ही स्तम्भ आगे निकल गया , हाथ छूट गये । वमन हुई । मस्तकमें चक्कर आ रहा था । नेत्रोंके सम्मुख अन्धकार छा गया ।

पता नहीं कब तक पड़ा रहा । कम से कम रात्रिमें तो मूर्छित रहा ही ; क्योंकि जब नेत्र खुले , शरीर ज्वरसे और आकाश दोपहरीकी धूपसे जल रहा था । वह किसी प्रकार लँगड़ाता , लट-पटाता घरकी ओर चला । न घरका पता था , न ग्रामका चिह्न । खेतोंमें सरोवर लहरा रहा

था और उसकी भग्न आशाकी भाँति उसपर हरे तिनके इधरसे उधर लक्ष्यहीन बहते जाते थे। जहाँ ग्राम था, उस टीलेपर पृथ्वीसे कंकड़ियाँ प्रकट हो गयीं थीं। कुछ लकड़ियाँ, फूस और गड्ढे इधर-उधर दीख पड़े। महाकालने वहाँ यही ग्रामके चिह्न छोड़े थे।

'भाई, इस प्रकार तो हम लोग भूखों मर जायेंगे!' उसकी भाँति सन्ध्या तक ज्वर-जर्जर पाँच पुरुष और वहाँ आ गये। वे जीवित बचे थे पूरे ग्राममें यह विनाशका अनुभव करनेके लिए। जीवनने उन्हें बचाया था और अब उन्हें जीवन बचानेकी चिन्ता थी चारों ओर जल था, पर क्षार। वृक्ष थे, पर पत्रहीन। उन्हें प्यास लगी थी, क्षुधा सता रही थी।

मैं उस दुःख-गाथाको बढ़ाऊँगा नहीं। जीवनका मोह सब करा लेता है! सूखे तृण और काष्ठ एकत्र हुए। वृक्षोंकी छालके द्वारा बाँधे गये। उस बेड़ेसे वे दूरके एक बड़े ग्रामको देख सके। ग्रामसे नगर और नगरसे इस देशमें उस बड़ी नौका द्वारा। करते क्या, उनके स्वदेशमें उस जल-स्तम्भने सैकड़ों ग्राम डुबा दिये। बहुत लोग नगर तथा दूसरे ग्रामोंमें मर गये। कोई उद्योग रह नहीं गया। पेट तो आहुति माँगता है। अन्तमें नौका द्वारा इस देशमें आये।

प्रारब्ध सबको मिलाता या पृथक् करता है। उसके ग्रामके वे पाँचों साथी यहाँ आनेके पश्चात् पृथक् हो गये। वह नहीं जानता, कहाँ गये वे। उसे तो एक उदार मालीने अपने बगीचेमें रख लिया है। बगीचेसे बाहर

वह जाता नहीं। इस बगीचेमें उसे बड़ा आनन्द आता है। यहाँ छोटे-छोटे पौधे होते हैं। वे वर्षमें एक बार सब पत्ते गिराकर ऐसे हो जाते हैं, जैसे सूख गये हों। यहाँ घास कम होती है। पौधोंको सींचना भी पड़ता है। उसके टापूमें बराबर हर महीने वर्षा होती थी। वृक्षोंमें पतझड़ इस प्रकार न होता। यहाँ अद्भुत बातें सीखनेको मिल रहीं हैं।

पेड़ोंपर झोंपड़ी बनानेके बदले नीचे सुन्दर मकान हैं। घूमनेके लिए स्वच्छ मैदान हैं। भोजन भी बहुत स्वादिष्ट मिलता है। इतनेपर भी वह अपने देश जायगा। उसके घर कौन है? उसका ग्राम बचा कहाँ? सब ठीक, वह जायगा। क्या पता उसकी स्त्री बच गयी हो। उसका लड़का जलमें-से निकल सका हो। कोई न भी हो तो वह अपने धानके खेतोंको घाससे स्वच्छ कर देगा। बगीचेमें नवीन वृक्ष लगावेगा। देशकी ममता उसमें जाग गयी है।

'यहाँ ये कुष्माण्ड बराबर कई महीने रखे रहते हैं।' ऐसे टिकाऊ कलकी इसे कल्पना भी नहीं थी। वह यहाँ कभी बाजार जाता··· पर उसने बाजारकी बात ही नहीं सोची। काम छोड़कर दस मील कौन जाय। वह प्रत्येक महीनेके अन्तमें अपने स्वामीसे कहता है—'मुझे मेरे परिश्रमके बदले ऐसे कुष्माण्ड दीजिये जो जरा बड़े और खूब पके हों।

उसको रहनेके लिए दो कोठरियाँ दी गयीं हैं। एकमें वह स्वयं रहता है और एकमें कुष्माण्ड भरता जाता है। उसका स्वामी समझता है कि वह कहीं अधिक मूल्यमें

कुष्माण्ड बेच लेता होगा। उस वृद्ध मालीने सेवकसे कारण पूछनेकी आवश्यकता समझी ही नहीं।

(२)

'यह दुर्गन्धि—यह तो वैसी ही है, जैसी सड़े फलोंकी आती है!' उसे लगा कि उसके उस घरसे जिसे उसने अपना कोषागार बना रखा है, सड़ाँध आरही है। 'मैंने कोई आमोंकी टोकरी वहाँ रखदी होगी। कोई चिन्ता नहीं, उन्हें सड़ जाने दो इस बार खूब आम आये हैं। मेरे दयालु स्वामी मुझे अभी कई टोकरी आम देंगे। मैं उतने खा नहीं सकता।'

'ये दुष्ट कीड़े—ये मेरे कुष्माण्ड खाजायेंगे।' उसने द्वारसे निकलते कुछ बड़े-बड़े श्वेत कीड़े देखे। 'मैं परसों सबको छकड़े लाकर लाद लूँगा। कुष्माण्डोंके कड़े छिलके इनसे कट नहीं सकते।'

'तुम्हारे कमरेसे इतनी तीव्र गन्ध आती है!' बगीचेके स्वामी उसके निवासकी ओर आये थे। 'क्या सड़ रहा है?'

'वे एक टोकरी आम जो आपने दिये थे····?' डरते-डरते उसने बताया।

'उन्हें अभी फेंक दो। नहीं तो तुम बीमार हो जाओगे।' आदेशको सामने ही सक्रिय देखनेको वे खड़े हो गये।

'मेरे कुष्माण्ड!' वह उसी दुर्गन्धिमें धमसे बैठ गया। उसका तो सर्वनाश हो गया। एक चीख निकल गयी

मुखसे। गन्दा मटमैला पानी इधर-उधर भूमिको गीली कर रहा था। कुष्माण्डोंकी आकृति देखनेके योग्य न थी। कीड़े चारों ओर रेंग रहे थे।

‘तुम क्या करते हो?’ दुर्गन्धिसे उपवन स्वामी दूर हट गये थे। उन्होंने देर होते देखकर पुकारा।

‘मेरे सब कुष्माण्ड सड़ गये!’ वह पागलोंकी भाँति एक-एकको उठाता, देखता और पटकता जारहा था। एक भी तो ठीक मिलेगा, पर बहुत देर हो चुकी थी सड़ान प्रारम्भ हुए।

‘चलो निकलो!’ उसे कई बार पुकारनेपर न निकलते देख उसके वृद्ध स्वामी नाक दबाकर भीतर आये। हाथ पकड़ा उसका ‘यह क्या पागलोंका काम!’

‘मेरे कुष्माण्ड!’ उसे एकही धुन लगी थी। आँखें फाड़कर वह अपने कमरेकी ओर घूर रहा था।

‘मैं उन्हें दूसरे नौकरसे फेंक देनेको कह दूँगा, तुम दुर्गन्धिसे विक्षिप्त हो रहे हो। घसीटकर कुछ दूर खुले स्थानमें उन्होंने उसे डाल दिया। ‘तुमने इस प्रकार क्यों इन्हें बन्द कर रखा?’

‘आपने मुझे ऐसे कुष्माण्ड दिये जो सड़ गये!’ उसके नेत्रोंमें उन्मादका रोष था।

‘बुद्धिमानकी भाँति बातें करो!’ मालिकने उसके कन्धोंको पकड़कर हिला दिया। ‘इस प्रकार कुष्माण्डोंको भरनेमें तुम्हारा उद्देश्य क्या था? तुमने क्यों नहीं सोचा कि वे सड़ जायेंगे।’

'मैं उन्हें अपने देश ले जाना चाहता था !' पृथ्वीपर गिर पड़ा और दोनों हाथ मस्तकपर रखकर फूट-फूटकर रोने लगा। 'मेरी समस्त सम्पत्ति नष्ट हो गयी।'

'तुम चाहो तो मैं तुम्हें दूसरे कुष्माण्ड दूँगा !' स्वामीको दया आयी।

'वे सड़ेंगे तो नहीं ?' उसने जैसे नये प्राण प्राप्त किये। उसके नेत्र अपने उदार स्वामीके मुखपर स्थिर हो गये।

'कह नहीं सकता !' उपवनके उन अनुभवी वृद्धने मस्तक झुकाकर कुछ सोचा 'तुम्हें दूर जाना है। नौका वर्षासे भीगेगी ही। केवल कुछ फलोंको ठीक रीतिसे पहुँचनेकी आशा की जा सकती है, परन्तु अपने यहाँ जाते ही उन्हें काममें ले लेना।

'वे वहाँ जाकर सड़ जायेंगे ?' उसने फिर निराश होकर मस्तक झुकाया।

'एक सप्ताह तक कदाचित् रह सकेंगे !' वृद्धने आश्वासन दिया।

'मुझे कुष्माण्ड नहीं चाहिये !' अब वह निश्चयपर आ गया था।

'नौ की लकड़ी, नब्बे खर्च, इतना भार, इतना झंझट उठाना व्यर्थ ही है !' उपवनके स्वामी यद्यपि उसके कुष्माण्ड ले जानेके आग्रहका अर्थ नहीं समझ सके थे, पर उन्हें यह फल व्यापारके भी अनुपयुक्त लगता था। उनकी समझमें वह इसे अपने यहाँ बेचना चाहता होगा। 'तुम कोई अधिक उपयोगी वस्तु ले जा सकते हो !'

(३)

‘सब फल सड़ते हैं, सब फल..?’ उसे आश्चर्य हुआ।

सड़नेको तो पत्थर भी सड़ जाता है। पर···’ स्वरमें समझानेका भाव था।

‘पत्थर भी सड़ता है!’ वह एक बार चौंका और फिर स्थिर हो गया। सचमुच ही तो उसकी कोठरीके द्वारपर लगा पत्थर सड़ रहा है। उसमें-से बराबर टुकड़े गिर रहे हैं। उसकी खुरपी घिसकर छोटी हो गयी। ‘लोहा भी सड़ता है।’

‘तुम्हारा काम चलना चाहिये।’ बात तो ठीक ही थी। मनुष्यके उपयोगसे पूर्व कोई वस्तु न सड़े, इतना ही पर्याप्त है। वह सब पदार्थोंके ह्रासकी मीमांसा करने बैठे तो कहीं पदार्थ भी स्थिर मिल सकते हैं। ‘मैं तुम्हें ऐसी वस्तुएँ दे दूँगा जो सुरक्षित पहुँचेंगी। तुम उन्हें अच्छे लाभसे बेच सकोगे।’

‘वे कभी सड़ेंगी तो नहीं?’

‘कभी-न-कभी तो सड़ेंगी ही! यह शरीर भी तो सड़ जाता है!’ इस बार थोड़ी झुँझलाहट आयी।

‘शरीर भी सड़ता है!’ वह सोचने लगा है कि जल-प्रवाहमें लुप्त उसकी वृद्धा माता, स्त्री, पुत्र, सब सड़ गये होंगे। जब कोई पशु मरता था तो उसे फेंक दिया जाता था। पशु सड़ जाता था। पत्थर सड़ता है, लोहा

सड़ता है तो शरीर भी सड़ेगा ही। उसका अपना शरीर भी एक दिन सड़ेगा।

'मैं तुम्हें यह स्वर्ण-मुद्रा देता हूँ।' उसकी उदासीनता और इतने दिनोंकी सेवा दोनों इस पुरस्कारको प्रेरित कर रही थीं।

'स्वर्ण—यह पीली वस्तु !' उसने इतनी चमकीली वस्तु पहिले देखी है। बच्चेकी उत्सुकतासे लेकर उलटने-पलटने लगा। 'क्या काम आवेगो ?'

'तुम इससे जो चाहोगे, खरीद सकोगे !'

'यह सड़ेगी तो नहीं ?' आशंका हुई।

'स्वर्ण सड़ता नहीं !' वे हँस पड़े।

'कभी नहीं सड़ेगी ?' बड़े स्नेहसे उसने मुद्राको मुट्ठीमें दबाया।

'कभो तो यह पृथ्वी भी नष्ट होगी, सूर्य भी नष्ट होगा, तारे भी नष्ट होंगे !' उसके स्वामी झूँठ नहीं बोलते। लेकिन यदि तुम इसे व्यय न करो तो तुम्हारी कई सन्तानों की आयु तक ज्यों-की-त्यों रहेगी। सोना बहुत कम घिसता है।'

'पृथ्वी, सूर्य, तारे, सब नष्ट होंगे! सब सड़ेंगे !' उसने इस प्रकार भयसे चारों ओर देखा, जैसे अभी ही सब सड़ने वाले हैं। 'सब सड़ेंगे।'

'तुम पागल मत बनो !' स्नेह भरे स्वरसे समझानेका प्रयत्न हुआ। संसारके सब पदार्थ धीरे-धीरे नष्ट हो रहे

हैं। सबमें परिवर्तन ह्रास हो रहा है, यह कोई डरनेकी बात नहीं।'

'मुझे ऐसी वस्तु चाहिये जो कभी न सड़े।' किसीके हृदयमें कोई भाव विद्ध हो जाता है। कुष्माण्डोंकी सड़ान उसके हृदयमें जाकर बैठ गयी। उसे सड़ानमात्रसे भय हो गया। यह प्रश्न निकल गया कि किसी पदार्थको सड़नेमें कितने दिन लगेंगे। 'मुझे यह नहीं चाहिये!' बड़ी शिथिलता, उपेक्षासे स्वर्ण-मुद्रा उसने लौटा दी।

'विश्वमें ऐसी कोई वस्तु नहीं!' उन्होंने भी खेदसे कहा।

'कोई वस्तु नहीं!' जैसे वह फिर पागल हो जायगा। 'मुझे नहीं मिलेगी वह!'

'कुछ है जो कभी नष्ट नहीं होता!' उन्होंने शीघ्रतासे कहा 'मेरा काम फलोंका व्यवसाय करना है। पुस्तकोंमें पढ़ा है कि भारतीय ऐसे किसी तत्वको जानते हैं जो कभी सड़ता नहीं। घटता नहीं! अपने नगरमें एक भारनीय-पोत आया है। यद्यपि काम बहुत कठिन है, पर मैं प्रयत्न करूँगा कि तुम उससे उतरे किसी यात्रीसे परिचय प्राप्त कर सको!'

'मैं अवश्य उनसे पूछूँगा!' उसने बड़े उत्साहसे कहा 'मैं पूरे जीवनभर उनकी सेवा करूँगा। उनसे कोई पारिश्रमिक नहीं लूँगा और रात्रिमें केवल दो घण्टे सोकर शेष सब समय उस काममें लगा दूँगा, जिसके लिए वे आज्ञा देंगे।' उसकी धारणा ठीक ही है। उसने सुना है कि भारतीय साक्षात् देवता होते हैं। भला ऐसे

उदार पुरुष उसके इतने श्रमपर क्यों प्रसन्न न होंगे। उसे लगा कि वह न सड़ने वाला पदार्थ उसे अब मिलने ही वाला है।

(४)

'यदि श्रीमान् आज्ञा दें, मलयके एक वृद्ध प्रमुख फल-विक्रेता श्रीचरणोंमें उपस्थित होना चाहते हैं!' मलय देशके महाराजने स्वयं प्रार्थना की। वे उस वृद्ध व्यापारीसे परिचित हैं। उसने अपनी प्रतिभासे मलयका नाम उज्ज्वल किया है और उसकी उदारता विख्यात है। महाराजके यहाँ प्रायः प्रत्येक पर्वपर उसके फल उपहार-स्वरूप पहुँचते हैं। अवश्य वह भारतसे कोई अद्भुत वृक्ष मँगाना चाहता होगा।

'मनुष्यको मनुष्यसे मिलनेमें इतना संकोच क्यों हो?' युवराजने प्रसन्नतासे अनुमति दे दी।

'श्रीमान्की कृपा, महाराज जानते हैं कि सबके लिए इन भारतीय राजपुरुषोंको समझना सरल नहीं। ये उदार हैं, इतने जिसने देवता भी नहीं हो सकते। एक मलिन-बसन दरिद्रके सम्मुख भी मस्तक झुकाते इन्हें संकोच न होगा और कहीं इनकी भृकुटिपर बल आया— मलय तो क्या, पूरी पृथ्वीकी संगठित शक्तिके विरुद्ध इनके धनुषपर बाण चढ़ते देर नहीं लगनेकी। आज तक किसीका गर्व इनपर विजय नहीं पा सका। अंगके युवराज इस समय सानुकूल हैं, महाराज तो इतनेमें ही कृतार्थ हैं।

‘युवराजकी कीर्ति अमर हो !’ वृद्धने प्रवेश करते भूमिपर मस्तक रखकर प्रणिपात किया। उसके करोंमें उसके उपवनके श्रेष्ठ फल थे जो सम्मुख रख दिये गये।

‘मैं स्वयं आपका फलोद्यान देखना चाहता था।’ राजकुमार शिष्टाचार नहीं कर रहे थे। वे भारतसे पिताकी आज्ञा लेकर देशोंका आनुभविक ज्ञान प्राप्त करने आये हैं। विश्रामके दो-तीन दिनोंमें महाराजसे अपने भ्रमणका निश्चयकर लिया है उन्होंने। ‘आपकी सहायता करके हमें प्रसन्नता होगी !’

‘मेरा अहोभाग्य !’ वृद्धने उल्लास प्रकट किया। मेरे देश और मेरे कुल तक यह युवराजकी कृपा स्मरण रखेंगे कि श्रीमान् एक दीनके यहाँ पधारे थे !’ दो क्षण वह रुका।

‘पर आप इतना ही कहने नहीं पधारे हैं !’ युवराज मुस्करा रहे थे।

‘यदि अविनय क्षमा हो !’ वृद्धका संकोच अनुचित नहीं था। उनका सेवक विक्षिप्त प्राय है वह कहीं अवज्ञा कर बैठे।

‘मैं भी मनुष्य ही हूँ ?’ कुछ स्नेह था स्वरमें। ‘आप मुझे हौवा क्यों बनाये दे रहे हैं !’

‘बालि-द्वीपके समीपके छोटे द्वीपोंमें एक द्वीप उशनस है। उसका एक निवासी मेरे यहाँ कुछ दिनोंसे है।’ वृद्धने धीरे-धीरे पूरी बातें सुनायी। ‘वह ऐसी वस्तु चाहता है जो कभी न सड़े। वह उसके लिए आजन्म श्रम करेगा, ऐसी उसकी मान्यता है। मैंने इतने दिनोंमें अनुभव किया है कि वह परिश्रमी और सच्चा है।’

'ऐसी वस्तु जो कभी न सड़े !' युवराजने मस्तक झुका लिया। वृद्धने हाथ जोड़कर मस्तक झुका रखा था, मलयके महाराज वृद्धकी ओर कुछ तीक्ष्ण दृष्टिसे देख रहे थे। इस बुड्ढेमें परिहास वृत्ति है, यह तो कभी सुना नहीं। वह क्या युवराजका अपमान करेगा? युवराज अतिथि ही नहीं, सम्मान्य हैं! महाराज सचिन्त थे पर शान्त!

'मैं तुम्हारे साथ चलकर उसे देखूँगा!' युवराजके साथ उनके कुल गुरुके पुत्र पधारे हैं। वे विप्रकुमार वृद्धसे कह रहे थे।

'आचार्य!' युवराजने मुख उठाया। वे गुरु-पुत्रको गुरुदेवके समान ही पूज्य मानते हैं। 'आप एकाकी पधारेंगे?'

मेरे साथ ये वृद्ध रहेंगे! इनका रथ राजद्वारके निकट ही होगा!' युवक होनेपर भी उनकी वाणीमें वह गाम्भीर्य था जो भारतके तपस्वी विप्रकुमारमें ही सम्भव है। 'जिज्ञासु न आसके तो उपदेष्टाका उसके समीप जानेमें अपमान नहीं होता। तुम जानते हो कि वहाँ राज्यका ऐश्वर्य बाधा देगा।'

'जिज्ञासु!' कुमार सोच रहे थे। जिज्ञासुके बिना अविनाशी तत्वकी इच्छा कौन करेगा? संसारमें तो सब नाशवान ही पदार्थ हैं।'

'आप चल रहे हैं!' विप्रकुमार उठ खड़े हुए। उनके साथ तो पूरी राज-परिपदको उठना ही था।

'ऐसा पदार्थ जो कभी न सड़े, तुम नहीं जानते ?' रथ फलोद्यानमें पहुँचा और सीधा उस छोटी झोंपड़ीके द्वारपर रुका। बिना भूमिकाके रथसे उतरते ही उसके कन्धोंपर अपना दक्षिण हस्त रखकर उन्होंने पूछा। 'यह तो बहुत सीधी बात है। तुम स्वयं वह पदार्थ हो !'

'मैं स्वयं ?' वह चौंका। इतना तेजस्वी पुरुष उसने कभी देखा नहीं था। उसे लगा कोई देवता ऊपरसे उतर आये हैं। उस हाथके स्पर्शने जैसे उसे अभिभूत कर दिया। पता नहीं पूरा शरीर क्यों झनझना उठा। न प्रणामकर सका और न कुछ ठिकानेकी बात कह सका।

'हाँ तुम !' उनके नेत्र उसके नेत्रोंपर स्थिर हो गये थे। जैसे नेत्रोंसे ज्योति निकल रही हो। 'मैं, तुम, यह तुम्हारे स्वामी, सब ! इन शरीरोंमें जो चेतन-तत्व एक-रस जन्मसे मृत्यु तक शरीर तथा पदार्थोंके नाश, सड़ानको देखता है, वह क्या कभी नष्ट होता है ? वह सड़ता है क्या ?'

'सब नाश होने वाले शरीरोंमें जो उन्हें देखता है !' नेत्रोंकी ज्योतिको वह सह न सकेगा। 'नहीं, वह नष्ट कहाँ होता है। मैं जैसा बचपनमें था, वैसा ही तो हूँ !' वह नेत्र बन्द करके सोचने लगा, वे तो मुड़ पड़े। वृद्ध उद्यान स्वामीको उनकी अर्चा करके अपनेको कृतार्थ करना है, पर वह बैठ गया। उसमें जो अद्भुद आनन्द उमड़ पड़ा है— कौन जाने कब उठ सकेगा वह।

उत्तम पुरुष

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

'प्रकृति और उसका यह रूप' चारों ओर धुआँ फैला था। अग्निकी लपटें जहाँ-तहाँ उठ रही थीं। अब भी कहीं-कहींसे चीत्कार फूट निकलती थी। शरीरोंके जलनेसे वायुमें जो दुर्गन्धि भरी थी, उसमें श्वाँस लेना कठिन था। वे पिशाच! उन्होंने हमारे रमणीक ग्रामको श्मसान बना दिया!' भयसे वह काँप उठा। चारों ओर देखा, किसीके होनेके कोई लक्षण न थे। क्रोधसे मुट्ठियाँ बँध गई। ओठ दाँतोंसे दब गया।

'पता नहीं कौन दबा होगा!' एक करुण चीत्कार आयी। पूरा भवन गिरा पड़ा था। लपटोंसे शून्य स्थान अंगार बन चुका था। उस धुएँ, ज्वाला और अग्निमें यदि वह कोई प्रयत्न करना चाहे, क्या करेगा। ताप इतना अधिक था कि खड़ा न रह सका। नेत्रोंमें अश्रु चल रहे थे। आखोंके साथ नासिका भी जल रही थी; किन्तु हृदयमें जो बड़वानल जल रहा है? ···

'यह किसका काम है?' वह सहज ही इस ज्वालासे निकल नहीं सकता। भय है कि वे हत्यारे रक्त-पिपासु कहीं बाहर ही न हों। शरीर झुलस रहा है, पर वह खड़ा है। उसे उन यमदूतोंका स्मरण भी चौंका देता है! 'हमारे नेताओंकी भूलका दुष्परिणाम—मानवक

प्रारब्ध - प्रकृतिका कोप।' आज विचार भी भयभीतकी भाँति रुक कर आते हैं।

'यह कौन जल रहा है?' जिधर चाहे नेत्र उठाकर शरीरोंको जलता देखा जा सकता था। 'प्रकृतिकी चेष्टा जब पुरुषकी प्रसन्नताके लिए है, तो यह महारौरव उपस्थिति करनेवाली दानव-लीला किसकी?' वह दर्शनका विद्यार्थी रहा है और अब भी है। सहपाठी उसे अर्ध-विक्षिप्त कहकर चिढ़ाते थे। आज लगता है, सचमुच वह आधा पागल हो गया है।

'पुरुष ही तो थे वे नराधम!' फिर रोमांच हुआ। 'ये जो जल रहे हैं वे भी पुरुष हैं और यह भागने वाला मैं भी पुरुष।' इसी समय उसे स्मरण आया ये धू-धू करते अग्निदेव भी पुरुष हैं। 'नारी और पुरुष क्या? जीव तो सदा पुरुष है।' उसने पृथ्वीकी ओर देखा।

'एक पुरुष यह हैं जो जल रहे हैं।' उसे लगा कि सब गृह, वृक्ष, पदार्थ जो जल रहे हैं, पुरुष हैं। विनाशी—परिवर्तनशील इन पुरुषोंसे उसे घृणा हुई। 'दुर्गन्धि-ताप और दुःखके वीभत्स रूपके अतिरिक्त इनमें क्या है?'

'एक पुरुष वे हैं जो इनसे निकल भागे—कायर!' उसे प्रतीत हुआ, कोई उसके कानोंमें बड़े जोरसे उसे धिक्कार रहा है—कायर!' इन शरीरोंके साथ उसे जलाया नहीं जा सकता, पर निकम्मे हैं—भीरु हैं और वे क्रूरता करनेवाले भी तो वही पुरुष हैं।' भले वे

अविनाशी हों, पर तुच्छ हैं। वह अपने आपसे आज घृणा करता है। यदि प्रतिकार न कर सकता था तो मर तो सकता ही था। ये शरीरस्थ पुरुष (जीव) न मर सकते, न प्रतिकार कर पाते। ये भाग सकते हैं या क्रूरता कर सकते हैं। व्यर्थ है उसका जीवन। उसे लगा कि यदि और कुछ क्षण खड़ा रहा तो सम्मुख अग्निमें स्वयं कूद पड़ेगा। मस्तिष्क शोकके आघातसे अस्त-व्यस्त हो उठा था।

'वह भी एक पुरुष है, जिसने मेरी रक्षा की!' वह सहसा स्थिर होने लगा। 'वह रक्षक पुरुष मैंने उसे पुकारा और मुझे बचा लिया गया। इतने क्रूर वे प्रेत, इतने बड़े उनके समूहके समूह और इतनी तल्लीनतासे उनका एक-एक घर जलाना, लोगोंको मारना, फिर भी मेरी रक्षा हुयी। मैं बच गया!'

'वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, सब पुरुषोंमें वही उत्तम है।' उसने ऊपर देखा—'परमात्मा!' दीर्घ निःश्वास निकल गयी और नेत्रोंके सूखे आँसू फिर लौट आये।

(२)

'शतद्रू!' वह सतलजको सदा इसी नामसे पुकारता है। इसलिए नहीं कि काशीसे संस्कृत पढ़ आया है। इसलिए कि उसे इस आर्ष नाममें ऋषियोंके पवित्र वातावरणकी अनुभूति होती है। दोनों तटोंपर पावन

तपोवन, उनमें उठती हुई सामगानकी ध्वनिके साथ हवन-कुण्डका धूम। उसका ग्राम भी एक तपोवन जैसा ही लगता है जब वह उसे 'शतद्रू' के साथ देखता है। सेबके बगीचे, अंगूरकी लताएँ, हरे भरे खेत, सुन्दर शान्त गृह और थोड़े-से सुशिक्षित लोग। पंजाबमें इतना छोटा ग्राम दूसरा कठिनतासे मिलेगा।

देशका बँटवारा हुआ। आशा थी कि सतलज सीमा रेखा बनेगी, किन्तु उसके दोनों तट पाकिस्तानमें गये। अग्नि भीतर-भीतर पता नहीं कबसे सुलग रही थी। पिशाच अपने जाल फैला रहा था। भय, आशंका और क्षोभमें जो एक आशाका प्रदीप था, समाचार-पत्रके मोटे शीर्षकने उसे एक दिन प्रातः बुझा दिया। देशके नेताओंने विभाजन स्वीकार कर लिया। वे विवश थे-- दूसरा मार्ग न था।

'मेरा काव्योद्यान!' उसे प्रारब्धने कवि प्रतिभा दी है और अध्ययनने दार्शनिक बनाया है। ग्रामको वह प्रकृतिका क्रीड़ा-कुञ्ज कहता है। सचमुच इतना सुन्दर ग्राम-जैसे धरापर नन्दन उतर आया हो। 'हम सब पुरुष जो हैं!' सांख्यके अनुसार प्रकृतिका प्रयत्न पुरुषकी प्रसन्नताके लिए है। ग्राममें सब प्रायः सुशिक्षित हैं और स्वास्थ्य तो पांचालकी वायुमें प्रवाहित होता है।

'हम पुरुष हैं--प्रकृति हमारी सेवा करेगी!' आशंकाके दिन वह हँसीमें उड़ा ले गया। ग्राममें केवल हिन्दू और सिख हैं। समीपके गाँवोंमें यद्यपि दूसरे पक्षकी संख्या अधिक है पर हैं सब भले। उनके बच्चे बीमार हों

तो यहाँके वैद्यजी चिकित्सा कर आते हैं। अभावमें सरदारजीसे आर्थिक सहायता उन्हें मिलती है। यहींके लोगोंके खेतों और बगीचोंमें अधिकांश जीविका चलाते हैं। उनसे भयका कोई कारण नहीं जान पड़ा।

'कुछ होगा!' आशंका बढ़ती गयी। दबी अग्निसे उष्णता निकलने लगी। सरदारजीने बन्दूकें मँगवायीं। लोगोंने घरोंमें कृपाणें स्वच्छ करलीं।

'हम सब आप लोगोंको कोई कष्ट न होने देंगे!' पासके ग्रामीणोंको आश्वासन दिया। उनकी वाणीमें उस समय सत्य ही बोलता जान पड़ा।

अग्नि फूट पड़ी। सबके मुख सूख गये। धुआँ-चिनगारियाँ और ज्वालाएँ। लारियाँ आयीं।

धड़ाम-धड़ाम गोलियाँ चलीं और भगवानका पवित्र नाम लेकर पिशाचोंको नाचते देखा गया। 'मारो! जलाओ! छीन लो!' क्रूर अट्टहाससे दिशाएँ भर गयीं। पासके ग्रामवाले आगे थे। उनके साथ सरकारी वस्त्रोंमें तथा दूसरे लोग थे। लारियाँ पता नहीं कहाँसे आयीं थीं। उनके नेत्रोंमें हिंसा और क्रूरता पूर्ण हो रही थी।

'परमात्मा!' आज पहिली बार उसने परमात्माका स्मरण किया। 'पुरुषविशेष ईश्वरः' उसने पढ़ा है, पर वह सांख्य और पूर्व मीमांसाका समर्थक है। 'कर्म करो, फल भोगो। इसमें ईश्वरकी क्या आवश्यकता?' सत्कर्म करता है, पुनर्जन्म और स्वर्ग-नरक मानता है। सन्ध्या और श्राद्धमें पूरी आस्था है, परन्तु आप उसे ईश्वर नहीं

समझा सकते। पता नहीं कितनोंको तर्कमें सीधा कर दिया है उसने।

'परमात्मा! रक्षा करो मेरी!' घरमें दूसरा कोई है नहीं। ब्राह्मणको जीविकाके लिए क्या चिंता, यदि वह विद्वान है। माता-पिता रहे नहीं। स्वयं अपनी शादीका प्रयत्न लज्जाजनक जान पड़ा। आज यदि और कोई होता? लेकिन प्राणोंका मोह क्या कम होता है? 'वे लपटें उठ रही हैं। वे सब उस घरमें प्रवेश कर रहे हैं। वह फूँक दिया सबोंने तेल छिड़ककर!' वह द्वार बन्द करके खिड़कीके छोटे छिद्रसे देख रहा है। हृदय बैठा जाता है। शरीर पसीनेसे लथपथ है।

'अब वे इधर आवेंगे!' किसीकी दृष्टि अपने मकानकी ओर उठते ही प्राण निकल जाते हैं। आप चाहें तो उस विद्वान ब्राह्मणको कापुरुष कहलें, परन्तु सशस्त्र उन शतशः हिंसक पशुओंमें कूद पड़ना अपनी आहुति देनेके अतिरिक्त और कुछ न था।

स्त्रियाँ चीत्कार कर रही हैं, पुरुष और बच्चे मरण क्रन्दन करके शान्त हो जाते हैं। घरोंमें क्या हो रहा होगा, यह समझने योग्य भी वह नहीं है। रक्तसे भीगे छुरे और तलवारें लिये, रक्तसे सने वे हत्यारे जब घरोंसे निकलते हैं……। उनके उस अट्टहास और अप-शब्दोंका अर्थ मस्तिष्क ग्रहण नहीं कर पा रहा है।

'इस घरमें होगा वह पंडत-काफिर, उसकी गन्दी किताबोंके अलावा और क्या रखा है! पासके गाँवके जुलाहेका लड़का चिल्ला रहा था आवेशमें, अभी पिछले

वर्ष इसी 'पंडत' ने अपने मन्त्रसे उसे सर्पके काटनेपर मरतेसे बचाया, यह आज उसे याद नहीं। 'इसे यों ही फूँक दो! बहुत देर हो गयी है!' द्वारकी बाहरकी जंजीर उसने बाहरसे बन्द करदी।

'अरे जुम्मन!' मिट्टीके तेलके पीपे खुल गये थे पिचकारियाँ चल रहीं थी। पण्डितजीने बहुत साहस करके खिड़की तनिक खोलकर पुकारा।

'काफिर! हः! हः! हः!' पिचकारीकी तैल-धाराने मुख भिगा दिया। जुम्मन अट्टहास कर रहा था। खिड़की बन्द करते-करते तो धुँआ उठता दिखायी दिया।

'भागो' आग बहुत बढ़ गयी! लपटें आकाशकी ओर दौड़ी जा रहीं थीं। नीचे भगदड़ सुनायी पड़ रही थी और अपने गृहको 'भारती मन्दिर' कहने वाला भावुक उसमें इस प्रकार बन्द था जैसे पिंजड़ेमें चूहा। पिंजड़ा लपटोंमें घिर गया था।

'परमात्मा!' आर्त प्राण स्वतः उसको पुकारते हैं, जो अलक्ष्य रहकर भी उनकी आशाका अज्ञात आधार है। वस्त्रसे मुख पोंछ कर फेंक दिया वस्त्रको। पूरी बाल्टी पानी मस्तकपर उडेल लिया और उसी समय द्वार जलकर धड़ामसे गिर पड़ा।

'शतद्रू जा! उस सिन्धुशायीसे कहना, इस अधम ब्राह्मणको क्षमा करें।' आज उसकी शतद्रू कल-कल निनादनी क्रीड़ा बालिका नहीं है। वह शततः अश्वमेध, बृहस्पति सबकी साक्षिणी चीत्कार करती भागी जा रही है। इतना पैशाचिक नरमेध उसने कभी नहीं देखा। वह

अवश्य उस समुद्रके शेष-शय्यापर सोने वालेसे कहेगी—उसे इस अपावन तटसे मुक्ति मिले। 'मेरे पूर्वजोंने जिस यज्ञेशको युगों तक आहुतियोंसे तृप्त किया, उनका यह हीन अवशेष उसी परमात्माको भूल गया। शतद्रू, तू भी हमारे ही पापोंसे उत्पीड़िता बनी!' उसे लगता है यह सब अकेले उसीके पापका परिणाम है। ब्राह्मण होकर, सुपठित होकर भी उसने एक दिन एक आहुति जो नहीं दी उन यज्ञेशको। नित्यकी आहुतियोंमें कभी बाधा न पड़ी, यह सब होनेपर भी वे आहुतियाँ तो कर्मके साक्षियोंको-देवताओंको दी जाती थीं।

'शतद्रू,-विदा! नहीं जानता, कहाँ जाऊँगा!' हाथोंसे झुककर उसने जलका स्पर्श किया। 'जिसने आज बचाया है, वह उत्तम पुरुष हमारे शरीरकी भाँति विनाशी नहीं और जीवकी भाँति परिच्छिन्न नहीं! वह अविनाशी तीनों लोगोंमें व्याप्त है! वह रक्षा कर लेगा। रक्षा न करनी होती तो बचाता नहीं।' वह जलता द्वार, उठती लपटें—कहीं एक छाला भी तो नहीं पड़ा। किसीने जैसे उठाकर बाहर रख दिया हो। जब कोई एकमात्र उस निखिलेशपर ही निर्भर हो जाता है—राघवेन्द्रके शरणागतोंको कष्ट दें, प्रकृति या प्राकृत सृष्टिमें ऐसा साहस कहाँ हो सकता है।

'वे पिशाच मिलेंगे सही!' अत्यन्त भय विश्वास एवं निर्भयता बन जाता है। 'आज भी तो मिले ही थे।' जब वे घरसे बाहर निकले, उत्पाती भागे जा रहे थे। कुछ आगे गये थे और कुछ पीछेसे आ रहे थे। वे इतनी शीघ्रतामें थे कि उसमें-से एकके धक्केसे ये पण्डित गिरते-

गिरते बचे थे। उन्हें देखनेका अवकाश नहीं था। पापका पथ स्वतः भयपूर्ण होता है। उन्हें कौनसा कल्पित भय भगा रहा था, यह कहना कठिन है।

'शतद्रु, वे मेरी रक्षा करेंगे! वे ईश्वर हैं! समर्थ हैं।' योग दर्शनका 'ईश्वर' आज हृदयमें ज्योतिर्मय हो उठा था। 'वे सर्व समर्थ हैं—उनकी इच्छाके विपरीत कोई कुछ नहीं कर सकता!' भय चाहे न रह गया हो, मातृभूमि छोड़नेका क्लेश सीमातीत था और शतद्रूको वियोग तो मथ रहा था।

'मैं यहीं रहूँ!' एक बार विकल्प उठा। 'जो त्रिलोकीमें व्याप्त है, जो सबकी रक्षा करता है, वह मेरी भी रक्षा करेगा ही। उसने मुझे आज बचाया है, सदा बचा लेगा!'

'यह श्मसान, यह प्रेत-भूमि—कैसे यहाँ रहा जा सकता है।' एकबार पीछे जलकर भस्म प्रायः बने ग्रामको देखा। अब भी धुआँ उठ रहा है! वायु कहीं-कहीं चिनगारियाँ उठाता है। अधजले, सुलगते शवोंकी दुर्गन्धि आरही है। 'यही दृश्य, यही शोक निरन्तर स्मरण आवेगा। मैं अघोरी तो नहीं हो सकता। श्मसानमें भी भगवान शिवका निवास है, पर यह तो ऐसे मनुष्योंका बनाया श्मसान है जिनके नामसे पिशाच भी घृणा करेगा।' वैसे भी वह शैव नहीं बचपन में सुने रामायणी कथाके संस्कार आज जाग रहे हैं।

'मुझे मार्ग ज्ञात नहीं और मनुष्य इस सीमामें मिलने नहीं हैं।' वह कुछ सोचता नहीं था। उनके जैसे मनुष्योंकी दशाका पीछेका धूम्र साक्षी है और जो मनुष्य

बचे हैं, वे क्या मनुष्य हैं ? मार्गमें ऐसे मनुष्योंकी अपेक्षा हिंसक वन-पशुका मिलना कम भयप्रद होगा। 'परन्तु मुझे जाना है और तुमसे विदा होना है ! मैं प्रयत्न करूँगा कि उस परमात्माके पावन चरणामृतकी अजस्र धारामें अपनेको पवित्र करूँ, जिसने मुझ जैसे अहंकारीकी पुकार सुनी और उसकी रक्षा की।' 'शतद्रू मुझे आशीर्वाद दो !' सचमुच उन विद्वानने भूमिमें लेटकर सरिताको प्रणाम किया। ऐसे ही श्रद्धालुओंके लिए सरिताका अजस्र 'स्वस्ति नाद' गूँजता रहता है।

(४)

आप शरणार्थी शिविरमें पधारें !' स्वयंसेवकने ठीक ही अनुमान किया था। नाम, पता पूछनेपर उसे अपना अनुमान उचित जान पड़ा। बिखरे रूखे केश, बढ़ी दाढ़ी, फटे वस्त्र और उपवास जीर्ण शरीर कहीं छिपता है। नेत्रोंमें जो वेदना आ बसी है, वह शरणार्थियोंको सहज सूचित कर देती है।

'किसके शिविरमें ?' वे निश्चिन्त हरिद्वारमें हरकी-पैड़ीपर आधे लेटे तरंगोंकी ओर देख रहे थे। स्वयं-सेवकके प्रश्नोंका उत्तर अनमने भावसे ही दिया गया।

'सरकारने आप लोगोंके रहनेके लिए व्यवस्था की है !' स्वयंसेवकसे व्यवस्था और स्थानका परिचय मिला।

'आप लोग सत्पुरुष हैं !' उन्होंने उठनेका कोई भाव प्रकट किया नहीं। 'आप औरोंकी व्यवस्था करें, मुझे एक उत्तम पुरुष मिल गये हैं।'

'धन्यवाद !' स्वयंसेवकने समझा, इनके कोई परिचित यहाँ होंगे। 'आप अपने आश्रयदाताका नाम पता बतादें। हमें आदेश है कि प्रत्येक शरणार्थीका पूरा पता रखा जाय !'

'वह उन सब पुरुषोंसे भिन्न है, जिन्हें आप जानते या जान सकते हैं !' तनिक वे हँसे 'मैं भी उसे ठीक जानता नहीं। श्रुतियोंने उसको परमात्मा कहा है !'

'देखिये, अभी तो धूप है, पर रातके दस बजते ही यहाँ तेज हवा चलेगी। इन सर्दियोंके दिनोंमें शिविरमें भी लोग ठंडसे बीमार हो रहे हैं !' स्वयंसेवक जानता है कि शरणार्थी दुःख एवं रोषसे क्षुभित आते हैं। किसी पर विश्वास उन्हें सहज नहीं होता। परमात्माका नाम उनके क्लेशने उन्हें स्मरण करा दिया है। 'यहाँ आप रात्रिमें बहुत कष्ट पावेंगे। अब तक आपको जो पीड़ा पहुँची है, उसको दूर करनेका कोई मार्ग सरकारके पास नहीं था।'

'मुझे भारतीय सरकारके प्रयत्न और सद्भावमें तनिक भी अविश्वास नहीं' उन्होंने बैठते हुए स्वयं-सेवकको सौम्यवाणीमें समझाना चाहा 'लेकिन जो तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर सबका धारण-पोषण-रक्षण करता है उसीने मेरी अब तक रक्षा की है। वह यहाँ भी है और सर्वत्र है ! मैं केवल उसीकी रक्षासे संतुष्ट हूँ।'

'वह तो वहाँ भी था, जहाँसे आप पधारे हैं !' स्वयं-सेवकको लगा, वह बहुत तीक्ष्ण बात कर गया। उसने अपनी बात सम्हालनेका प्रयत्न किया। 'परमात्मा

सबकी रक्षा करता है, परन्तु मनुष्यको भी अपना कर्तव्य करना चाहिये। हम सब यथाशक्ति आप लोगोंकी सेवा कर रहे हैं। आप कृपा करेंगे, सहयोग देंगे तो परमात्माका स्नेह हमें प्राप्त होगा।' वह पढ़ी बातोंको भी ठीक दुहरा नहीं सक रहा है, यह समझ गया था, लेकिन अपनी विद्वत्ता-प्रदर्शनके प्रलोभनको रोक नहीं पाता था।

'मुझे न किसीकी शिकायत करनी है और न किसीसे द्वेष ही मेरे लिए ठीक है!' उन्होंने वैसे ही शान्त स्वरमें कहा 'जो कुछ हुआ है, वह हमारे ही अपराधोंका दण्ड है। वह परमात्माकी अनुपस्थितिमें हुआ, यह कौन कहेगा। हमने कर्तव्य-पालन नहीं किया। अब उस कर्तव्यको पालन करनेके मैं प्रयत्नमें हूँ।'

'बराबर नवीन लोग चले आ रहे हैं। स्थान बहुत थोड़ा है और जो कम्बल आये थे, वे समाप्त होनेवाले हैं।' स्वयंसेवकने प्रलोभन देनेका प्रयत्न किया। 'रात्रिमें यहाँ कष्ट पानेकी अपेक्षा आप अभी साथ चलें तो सुविधा पा सकेंगे। कौन कह सकता है कि कल भी शिविरमें स्थान रहेगा। स्थान भर जानेपर कहाँ जानेकी व्यवस्था सरकार करेगी, अभी निश्चित नहीं है।'

'आपके स्थान और वस्त्रोंकी बहुतोंको आवश्यकता है!' उन्होंने कोई उत्कण्ठा प्रकट करनेकी अपेक्षा स्वरको निश्चयात्मक रूप दिया। 'मैं भी उसमें एक भागीदार बनूँ तो किसीका भाग छीना ही जायगा। दूसरी ओर मेरा शरणदाता अव्यय है। उसका कोष, कभी रिक्त नहीं होता। उसके पास स्थानाभाव नहीं होता। यहाँ

जितने आ सकें, सब समान रूपसे सुखी हो सकेंगे। वैसे भी मैं प्रातः यहाँसे अयोध्याके लिए चल देना चाहता हूँ।' भगवानका वह भव्य साकेत धाम– शैशवसे ही उनको स्वप्न आते रहे हैं। अब उन श्रीराघवको छोड़ किसके शरणार्थी बनें वे!

'फैजाबादमें दंगा हो गया है!' स्वयंसेवक झूठ नहीं बोल रहा था। समाचार-पत्रोंमें संघर्षका कुछ समाचार छपा है। जनताकी धारणा हो गयी है कि सरकार दंगोंका बहुत ही अल्प समाचार देती है। समाचार-पत्र भी इस सम्बन्धमें कुछ ठीक नहीं छापते, यह लोगोंकी मान्यता है। 'स्वयंसेवक भी तो जनतासे ही आते हैं यद्यपि समाचारमें कोई विशेष बात नहीं है, पर सुनते हैं कि पूरा नगर अशान्त है। बहुत रक्तपात हुआ है। अभी उधर जाना नहीं चाहिये।'

'आप चिन्ता न करें। मैं शास्त्रोंकी बात छोड़ भी दूँ तो भी मेरा अपना अनुभव है मैं यहाँ इस समय हूँ— यही इसका प्रमाण है कि मेरा वह शरणदाता समर्थ है। वह ईश्वर है। मैं उसके दिव्य-धाममें जानेमें कैसे भयभीत हो सकता हूँ!'

'मैं केवल सूचना दे सकता था और अनुरोध कर सकता था!' स्वयंसेवकोंके पास इतना समय नहीं हुआ करता कि ऐसे हठी लोगोंसे उलझे रहें। उसने फिर चेतावनी दी—'मार्गके कई नगर अशान्त हैं। बराबर सरकार घरोंकी तलाशियाँ ले रही है। शस्त्रास्त्र प्रायः सब

कहीं पाये जाते हैं। पता नहीं कब कहाँ विस्फोट हो जाय !'

× × ×

बड़े-बड़े अधपके बाल, गोरा लम्बा मुख, कुछ अरुणाभ नेत्र और अल्हड़ मतवाली चाल, आपको कदाचित् अयोध्यामें कनक भवनके आस-पास कभी एक पञ्जाबी सन्त मिल सकें। लोग कहते हैं 'उन्हें पवन-कुमार स्वयं रात्रिमें प्रसाद दे जाते हैं।' किसीसे कुछ माँगते या लेते उन्हें किसीने कभी देखा नहीं।

पुरुषोत्तम

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

'पक्षी, इतने वेग और इतनी आकुलतासे कहाँ ?' पक्षिराजका आश्चर्य अस्वाभाविक नहीं था। एक पक्षी और वह भी ऐसा पक्षी जो उनसे परिचित है, उनको मार्गमें देखकर भी नहीं देखता, ऐसी किस धुनमें उड़ा जारहा है वह।

'महाराज, क्षमा करेंगे !' पक्षीने अपने पंजे हिलाये, चोंच एक बार खोलकर बन्द की और पंखोंको तीन बार फड़फड़ा दिया। 'इस समय प्रदक्षिणा करनेमें असमर्थ हूँ !' प्रणाम करनेकी परिपाटीका यही अंश बच रहा था।

'इस बार कोई तुम्हारे अंडे ले भागा है ?' गरुड़को रोषके स्थानपर हँसी आयी। इसी टिट्टिभने अंडे बहा ले जानेपर समुद्रको सुखा देनेका प्रयत्न किया था। उसका श्रम उस समय पक्षियोंका जातीय कार्य बन गया। स्वयं गरुड़जी बाध्य हुए थे पक्षियोंके साथ समुद्रजल उलीचनेको। उस समय महर्षि अगस्तने समुद्र-पान करके इस नन्हें पक्षीका अध्यवसाय सफल किया। आज वह फिर किसी आवेशमें है। उसे अपने

निश्चयसे हटाना तो शक्य नहीं। गरुड़के लिए उसके साथ उड़ना स्थिर रहने जैसा ही था। वे उसके साथ चल रहे थे। 'तुम उसका नाम बता दो, मैं अण्डे ला दूँगा और जो दण्ड कहो, दे आऊँगा।' पता नहीं यह हठी किस देवता या असुरसे उलझ पड़ा हो। हार मानना तो आता नहीं इसे। बात बढ़े और सृष्टिके समस्त पक्षी इसके साथ एकत्र हों, इससे अच्छा था कि पक्षिराज स्वयं कार्य पूरा कर दें!

'आप शीघ्र मथुरा पधारें! वहाँ भगवान एक असुरसे संग्राम कर रहे हैं!' पक्षीने सहायता स्वीकार नहीं की। 'आप उनकी सहायता करेंगे!' मैं भी यथासम्भव शीघ्र लौटूँगा! प्रभुको बहुत बाण लगे हैं!'

'उन्हें जब मेरी आवश्यकता होगी, स्मरण करेंगे!' पक्षिराज कैसे समझावें कि अपने आराध्यके चित्तसे उनका चित्त अभिन्न है। वहाँ इच्छा हुई तो यहाँ गति बनेगी वह पक्षोंमें। मथुरा है कितने पलका मार्ग। 'इस समय तो तुम्हें मेरी सहायताकी अधिक आवश्यकता जान पड़ती है!' टिट्टिभ यों भी अल्प शक्ति पक्षी है। वह उड़नेकी अपेक्षा पैरोंसे दौड़ना अधिक पसंद करता है। इसके पक्ष शिथिल होरहे हैं। मुख खुल गया है। नेत्र बार-बार खुलते और बन्द होते हैं। कब तक इस प्रकार उड़ सकेगा? अपनी प्रजाके एक दुर्बल, श्रान्त सदस्यपर पक्षिराजकी अनुकम्पा उचित ही थी।

'मुझे केवल सुमेरु तक जाना है!' जैसे सुमेरु कहीं बहुत समीप ही हो। 'अश्विनीकुमारोंके दिव्य उद्यानसे

उस औषधिके दो पत्र लूँगा, जिसे आपने एक बार मुझे प्रदान किया था !'

'तुम्हारे शरीरमें तो आघातके कोई चिह्न नहीं !' पक्षिराजने ध्यानपूर्वक उसका प्रत्येक अंग देख लिया। 'वह अमृत-वल्ली किसी सामान्य पक्षीको दी नहीं जानी चाहिये !' कहीं कोई शावक श्येन द्वारा पीड़ित हुआ होगा। स्नेह परवश मर्यादा विस्मृत हो गयी। इस गतिसे जब यह सुमेरु तक पहुँचेगा, एक चतुर्युगी तो व्यतीत हो ही जायगी। तब तक क्या उस शावककी सन्तति परम्परा भी भूमिपर मिल सकती है ?

'श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअंगोंमें असुरके बाण लगे हैं !' पक्षीने बड़ी कातर दृष्टिसे पक्षिराजकी ओर देखा। केवल दो दल लूँगा मैं !' जैसे प्राणोंकी याचना कर रहा हो।

'कब तक लौट सकोगे ?' गरुड़ हँसे।

'मैं कहीं नहीं रुकूँगा। जल पीनेके लिए भी नहीं।' जो समुद्रको सुखा देनेका दृढ़ निश्चय कर सकता हो, उसके लिए यही क्या कठिन है। 'आप पधारें। प्रभु अवश्य आपको देखकर प्रसन्न होंगे। उस असुरके साथ अपार वाहिनी है। मेरे पंजे इतने तीक्ष्ण नहीं।' बड़ा रोष है उसे असुरपर ; किन्तु करे क्या। उसकी विवशता वही समझता है।

'भगवानको आघात लगता ही नहीं।' गरुड़ ही यह बात कह सकते हैं। उनके पक्षोंसे वज्र भी कुंठित हो जाता है। वाण तथा दूसरे शस्त्र उनको केवल

सहलातेसे जान पड़ते हैं। भला उनका आरोही उन्हीं शस्त्रोंसे आहत कैसे हो सकता है ? 'तुम्हारा शरीर जैसे अमृत पाकर अमर हो गया है, वैसे वे नित्य अमर हैं।' समुद्र-शोषणके अन्तर सागरमें छिपे असुर शत्रुओंका वध करके महेन्द्र प्रसन्न हुए थे। उस टिट्टिभको पुरस्कार-स्वरूप अमृतकी एक बूँद मिली। उसका शरीर तबसे तरुण बना है। उसी शक्तिसे तो आज वह सुमेरु तक उड़नेका साहस कर रहा है।

'मैंने देखा है—' पक्षी रुका। उन सुकुमार श्याम अंगोंपर रक्तके लाल-लाल बिन्दु स्मरण आये। उसके नेत्रोंमें जल भर आया। बाणोंसे क्षत बढ़ते जा रहे थे और वह दुष्ट असुर थकता नहीं था।

'यह तो उनकी लीला है ! बड़े खिलाड़ी हैं वे।' गरुड़ने भी तो वज्रकी अमोघताका मान रखनेके लिए एक पक्ष छोड़ दिया था। 'आओ, मथुरा लौटें। यदि आवश्यकता हुई तो मैं तुमसे बहुत अधिक तीव्र गतिसे जाकर औषधि ला दूँगा !' समझानेसे समझ जाय, ऐसा पक्षी वह नहीं था। उसके कार्यको पूर्ण करनेका आश्वासन ही उसे रोक सकता था।

(२)

'अभी एक पक्षी और आवेगा।' राजसूयका महा-मण्डप अपने ऐश्वर्यमें जहाँ अद्वितीय बन गया था, वहीं पृथ्वीके समस्त नरेशों, ऋषियों एवं दूसरे वर्गोंके प्रधानोंकी उपस्थिति उसे सजीव शान्ति दे रही थी। रत्नासनोंपर

अर्चित देवताओं तकने स्वीकृति दे दी अग्रपूजाके संबंधमें। धर्मराजने रोमांचित करोंसे अर्घ्य-पात्र उठाकर एक बार चारों ओर देखा। किसी योग्य अधिकारीकी अनुपस्थितिमें दिया अर्घ्य अधूरा रह जायगा। वे देखना चाहते थे कि सब उपस्थित तो हैं। उसी अग्रपूज्यने उन्हें सूचित किया।

'बैनतेय अपना आसन स्वीकार कर चुके हैं और काकभुशुण्डिजीको उन्होंने अपने समीप ही सुखासीन किया है।' सहदेवपर आसन देनेका भार है। उन्होंने बता दिया कि सभी दिव्य पक्षी आ चुके हैं।

'हम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे थे' इतनेमें ही एक नन्हा टिट्टिभ कहींसे उड़ता आया। श्यामसुन्दरने उसे चरणोंसे अपने हाथोंपर उठा लिया।

'ये महाभाग ?' आगतका आतिथ्य पहिले आवश्यक था। धर्मराजको तो पता ही नहीं कि इस पक्षीको किस प्रकारका आसन देना है। जो गरुड़ और भुशुण्डिकी उपस्थितिमें, सुरोंके सम्मुख बिना संकोच श्रीकृष्णके करोंपर आ बैठा है, वह कोई सामान्य पक्षी तो होगा नहीं। राजसूय यज्ञका यह मण्डप अधिकारीके अनुसार आसन एवं अर्चनकी अपेक्षा करता है।

'आप अर्घ्य प्रारम्भ करें!' श्रीकृष्णचन्द्र अपने अरुण वाम करतलपर बैठाकर उसपर धीरे-धीरे दाहिना हाथ फेरनेमें लगे थे। वह नेत्रोंको अर्ध-मुद्रित करके ऐसा शान्त बैठा था जैसे अपने एकान्त नीड़में ही हो। दूसरे लोग भी वहाँ हैं, इसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं

था। 'इसने स्वतः आसन ले लिया है। इस समय इतना आतिथ्य पर्याप्त है।' धीरेसे थप-थपा दिया उन्होंने पक्षीको।

'मैंने भी चरणोदक प्राप्त किया है!' भगवान ब्रह्मा अपने आसनके तनिक सम्मुख झुक गये थे। उनका पश्चिम मुख सावित्रीको सानुराग सुना रहा था 'वही चरणामृत आज त्रिलोकीको पवित्र करता है; किंतु यह पादोदक इतना अनुराग, इतना उल्लास!' वाणी रुद्ध हो गयी। आठों नेत्र अपलक वहाँ लग गये जहाँ द्रुपदतनयाके साथ युधिष्ठिर रत्नथालमें उन विकसित पाटल पदोंको प्रक्षालित कर रहे थे।

'मैं कोकिला बनी; किंतु सबका सौभाग्य एक समान कहाँ होता है!' भगवती पार्वतीने भोले बाबाकी ओर देखा। वे नीलकण्ठ स्वयं आसनपर उमग उठे थे। द्रौपदीने अमल नवल मृदुल अंचल हाथमें लिया उन श्रीचरणोंको पोंछनेके लिए और तभी पक्षी करोंसे उड़कर पदोंके समीप रत्न-थालपर आया। दक्षिण अंगुष्ठसे गिरती उज्वल बूँद मुख खोलकर उसने ली और फिर नाचने लगा। मयूरका नृत्य बहुतोंने देखा है, पर टिट्टिभ नाच रहा था। वह अमृतका आस्वादी टिट्टिभ—आज उसे लगा कि गरुड़ने तो अमृतके नामपर कोई क्षार बिन्दु पिलायी थी।

'पक्षिराज!' टिट्टिभ नाच रहा था, नाचते हुए वह कब गरुड़के समीप पहुँचा, उसे पता नहीं।' उसे ज्ञात ही नहीं था कि कोई और पक्षी भी यहाँ आये हैं।

'आप मुझे लज्जित करते हैं।' गरुड़ और काग भुशुण्डि पक्ष फैलाकर खड़े हो गये थे। सम्मान्य वही है जिसे प्रभु सम्मान दें। आज वह दयनीय टिट्टिभ नहीं। गरुड़ कैसे कहें कि आप आसन स्वीकार करें। उसे जो आसन राजसूयके सर्वस्वने सबके समक्ष दिया है, कहाँ मिलेगा वह आसन ?

'आपने कहा था श्रीकृष्णचन्द्र क्षरित नहीं होते। उनके शरीरपर आघात नहीं लगता। उनके शरीरसे कुछ नहीं निकलता। वे इनका नाट्य करते हैं।' टिट्टिभ आज अपनी मस्तीमें है। उसे लगता है, ये सब पक्षी क्यों उसके साथ नाचते नहीं। 'आपने कभी उनके चरणोंसे टपकती बूँद अपनी चञ्चुमें ली है ? कितना रस क्षरित होता है उसमें। देवराज अपने घटका वह सड़ा पानी फेंककर इसे भर क्यों नहीं लेते ?' देवराज भरना तो बहुत चाहें, पर कोई भरने भी दे। स्वयं पक्षिराजकी दृष्टि उसी चरणोदक पात्रपर लुब्ध है। पता नहीं उनको भी कोई बिन्दु उसमें-से मिलेगी या नहीं।

'वह असुर व्यर्थ ही खेद-क्लान्त होता था।' टिट्टिभ अपनी समझसे गाने लगा था। बेचारा मारा गया होगा। उसे किसीने बताया नहीं कि चरण धो और पीले।' पक्षीके लिए बहुत सीधी बात थी। असुरके लिए इतनी सीधी होती तो कदाचित् असुर न होता और होता ही तो बलिके समान उसे यह दिव्य द्वारपाल मिलता।

'धर्मराज, बच्चोंने तुम्हें भ्रान्त कर दिया है!' शिशुपाल अपने आसनपर उठ खड़ा हुआ। आवेशसे काँप

रहा था। क्रोधने उसके स्वरको विकृत कर दिया था। 'तुम बछड़े चराने वालेको प्रथम-पूज्य बना रहे हो और देखते नहीं कि पक्षियोंसे खेलनेका ओछापन वह यहाँ भी छोड़ नहीं सका है।' एक हाथ खड्गकी मूठपर रखकर वह उन्मत्तकी भाँति बोलता ही जा रहा था।

'यह भी कोई असुर।' पक्षी चौंका। चरणोंसे फुदक-कर गोदमें आ बैठा वह। 'इसके मुखमें एक बूँद वह जल डाल दूँ तो?' चरणोदकका रत्न-थाल वहाँसे द्रुपद-तनयाने हटा लिया था।

'मैं तुम्हें और जो कोई और चाहें, सबको चुनौती देता हूँ।' शिशुपालके करोंमें खड्ग चमक उठा। भीष्म पितामहकी वाणीने उसे और उत्तेजित कर दिया था।

'जैसे ये भी सबके समान कोई कटने, घटने वाले पदार्थ हैं।' एक नन्हा पक्षी भी जो बात समझ गया था, वह इतने बड़े दो पैरके मनुष्यकी समझमें नहीं आती? 'यह भी मरेगा! टिट्टिभको दया आ रही थी।

'तुझे कुछ करना ही है तो इसके पैर धो ले! तुझे भी अमृत मिलेगा' शिशुपालकी चीत्कारमें पक्षीका स्वर कौन सुने और कौन समझे? जो प्रेम इस आनन्दघनको ब्रह्मद्रव बनाता है, वह शिशुपाल पावे भी कहाँसे? पक्षी सोचता है—'वह जिसकी गोदमें आ बैठा है, वह कितना विचित्र है। असुरोंको—जो उसपर आघात करते हैं—अपनेमें लीन कर लेता है। अनुरागियोंको जो उसमें अपनेको लीन करते हैं, अपनेको दे देता है। वहाँ ब्रह्मद्रव बनता है। कोमलतासे द्रवित और कठोरतासे अजेय वह

समस्त जगतसे भिन्न ही है। शिशुपाल उन श्रीचरणोंमें प्रविष्ट हुआ, यह तो पक्षीने देखा ही।

(३)

'मेरे अण्डे।' पक्षीकी वेदनाका पार नहीं था। इतनी बड़ी सेना, ये मतवाले हाथियोंके झुण्ड, ये दौड़ते-कूदते घोड़े, यह घर्र-घर्र करते रथ; कैसे बचेंगे उसके अण्डे। उन अण्डोंमें-से नन्हें शावक निकलते। वह उनके कोमल चंचुओंमें अपने चंचुसे चारा देता। उसके पैरोंकी आहटसे वे मुख खोलकर चूँ-चूँ कर उठते। पता नहीं कितनी आशाएँ थीं मनमें।

'कोई उनपर पैर रख देगा!' जैसे उसके हृदयपर ही कोई पैर रख रहा हो। टिट्टिभ भी क्या घोंसला बनाता है। वह तो मैदानमें भूमिपर ही अपने अंडे रखता है। वह इतना विशाल जनशून्य भूभाग इस प्रकार एक दिन भर जायगा, उसे क्या पता था। वह क्या जानता था कि मनुष्य, हाथी, घोड़े उसके अंडे देनेकी प्रतीक्षामें ही हैं।

'फटसे अण्डे फूट जायंगे! थोड़ा-सा पानी और तनिक-सी पीली, चमकीली, चिकनी गोंद जैसी वस्तु! ऊपरका आवरण चूर-चूर हो जायगा। चीटियाँ सब चाट जायँगी।' पक्षी उड़ा। उसने बराबर आकाशमें चक्कर काटे। भरपूर चिल्लाया, प्रार्थना की, रोका, गालियाँ दीं। कोई नहीं सुनता उसकी।

'श्रीकृष्ण, मेरे अण्डोंको बचाओ।' कहाँ मिलें श्रीकृष्ण? कौन उनके चरण धोयेगा पक्षीके लिए? उनके चरणोदकका एक-एक बिन्दु अण्डोंपर डाल पाता—शावक

मरते नहीं। श्रीकृष्णको शस्त्र नहीं आघात करते, उसके अण्डे भी न टूटते। पक्ष होते ही शावकोंको उड़ा ले जाता। नरम-नरम पक्ष, कोमल लाल शावक। पक्षी पुकारता रहा।

'वहाँ तो कुछ दीखता नहीं।' नीचे धूलिने सब ढक दिया। सन्-सन् वाण चलने लगे हैं। पक्षी बहुत ऊपर उड़नेको विवश हैं। वह कुछ नहीं देख सकता। उसके अंडे क्या अब तक होंगे ?

'अर्जुन, घण्टा काट दो तो !' ऐरावतके बच्चेपर बैठा भगदत्त सम्मुख आ रहा है। स्वर्णकी मोटी श्रृङ्खलाओंमें दोनों ओर दो स्वर्णघण्ट घनघना रहे हैं। पार्थ उसकी वाणवृष्टिको छिन्न करनेमें व्यस्त हैं; किन्तु पार्थ-सारथिकी दृष्टि भूमिमें कुछ देख रही है। 'दक्षिण घण्ट अभी।' बड़ी शीघ्रतासे आदेश दिया गया।

'धप् !' अर्जुनने सुन लिया था। घण्टा धूलिमें अपने भारसे बैठ गया। रथकी रश्मि हाथोंमें हिलाते हुए उस वनमालीने एक बार ऊपर देखा और फिर नन्दिघोष रथ आगे बढ़ गया।

'किसीने कुचल दिया होगा।' पक्षीके पंख थक रहे हैं। वह कब तक उड़ता रह सकता है। किसी बहुत दूरके वृक्ष तक जानेको मुड़ता है और फिर लगता है कि अब धूलि घट रही है। कौन जाने अंडे दिखायी ही पड़ जायँ।

'एक बार उनके फूटे खोखले ही देख पाता।' क्यों मनमें यह लोभ है, कोई कह नहीं सकता। वेदना ही तो

बढ़ेगी उन्हें देखकर। वह उड़ रहा है, मण्डल में रहा है। आपत्तिने उसे कपोतकी यह गति स्वतः बता दी। कण्ठ सूख रहा है, क्षुधासे शरीर अवसन्न होता जाता है। नीचे उसके अण्डे जो हैं। वह भी तो मृत्युसे एकाकी युद्ध ही कर रहा है।

'श्रीकृष्ण कहीं दिखलायी पड़ जाते!' वह उनसे प्रार्थना करता। वे पक्षियोंकी भाषा समझते हैं—सबकी भाषा समझते हैं। वह कहता है—'तुम मेरे अण्डोंको बचा दो। इन सब लोगोंको यहाँसे दूर हटा दो या मेरे अण्डे कहीं उठाकर रख दो कहीं ऐसे स्थानपर जहाँ कोई हाथी, घोड़ा या मनुष्य न पहुँचे। डरो मत, तुम्हारे छूनेसे वे बिगड़ेंगे नहीं। तुम समस्त पदार्थोंसे भिन्न पुरुष जो हो।'

'पहिले ही ढूँढ़ना था!' अब इस पश्चातापसे लाभ क्या। जब यह भीड़ आने लगी थी, दोनों पक्ष फैलाये वह अण्डोंपर बैठा था। उसे लगता था, स्वयं रक्षा कर लेगा। यह भीड़ कहीं चली जायगी। यदि उस समय अन्वेषण करता तो कदाचित श्रीकृष्ण मिल जाते। वे आये तो होंगे ही। इतने लोग आये हैं तो वे न आये होंगे! अब नीचे उतरने योग्य नहीं। रात्रिमें वह उतरता है तो कुछ देख नहीं पाता।

'ये कौवे, ये चीलें, ये गीध।' उसके शत्रुओंकी संख्या बढ़ती जा रही है। ये सब उसीके अण्डोंको खाने आये हैं। भला गीधकी दृष्टिसे अण्डे बचेंगे कैसे। 'ये शृगाल तो रात्रि भर ढूँढ़ते हैं।' अब वह रात्रिमें नीचे भी उतर

नहीं पाता। नीचे श्रृगाल कटकटाते हैं। रक्तसे सब भूमि लथपथ है। अण्डे बचे भी हों तो अब किस कामके।

'पक्षिराजने कहा था कि श्रीकृष्ण उनको स्मरण कर लेते हैं।' पक्षीको एक ही आशा थी। 'मैंने श्रीकृष्णको पुकारा है।'

'यहीं, यहीं कहीं मेरे अण्डे थे।' सहसा नीचे शान्ति हो गयी। यद्यपि गृद्ध, श्रृगाल, कुत्ते, कौवे बहुत आ गये थे, पर मनुष्य और हाथी घोड़े नहीं थे। पक्षीको केवल अपने अण्डे देखने थे। उसे शवोंकी चिन्ता नहीं थी।

'यहीं थे वे!' वह अन्ततः एक स्वर्ण घण्टपर आ बैठा! 'अवश्य इसके गिरनेसे फूट गये होंगे।' रोषमें कई चंचु मारे घण्टेमें। इधर-उधर उड़कर घण्टेकी परिक्रमा कर आया। रक्त-कीचमें वह घन्टा जम गया था।

'न भी फूटे हों तो क्या, अब तो सूख गये होंगे।' अब तक तो शावक निकल आये होते। उनके शरीर रोमसे ढकने लगे होते। पक्षीके शरीरकी उष्णताके अभावमें अंडोंके भीतरका द्रव प्राणी तो बनेगा नहीं। वे सड़ गये होंगे!

(४)

'न मुझे यह राज्य चाहिये न सम्पत्ति। युद्धमें पराक्रम प्रकट करने वाले भीमसेन राजा बनें या अर्जुन इसे स्वीकार करें। नकुल या सहदेवमें जिसे चाहे आप राजा बनादें।' धर्मराज अपना शोक दबा नहीं पा रहे

थे। 'इतने गुरुजनोंकी हत्या की मैंने, इतने भाइयोंको मरवाया। उनके शोणितसे सिक्त यह भूमि मुझे नहीं चाहिये। बच्चे बिलख रहे हैं। विधवाएँ आँसू बहा रही हैं। वृद्ध शाप देते होंगे। मेरे जैसा पा पात्मा कैसे प्रजाकी रक्षा कर सकता है।'

'आप क्या करना चाहते हैं?' श्रीकृष्णकी वाणी गम्भीर थी।

'मुझे आप आज्ञा दें। मैं भगवती जाह्नवीके तटपर उपवास करके शरीर छोड़ दूँगा।' इससे अधिक प्रायश्चित और किया क्या जा सकता है।

'ये आपके सब भाई, यह द्रौपदी और मैं, सब आपके साथ चलेंगे!' वाणीमें करुणा घनीभूत हो गयी। 'यदि कोई पाप हुआ है, तो सबने मिलकर किया है। सब उसका मिलकर ही प्रायश्चित करेंगे। लेकिन प्रजा क्या करे? उसे आप दस्युओंके लिए छोड़ जाना चाहते हैं?' बड़ा टेढ़ा प्रश्न था।

'मैं अपनेको असमर्थ पाता हूँ।' धर्मराज वनमें तप करने तककी बात तो स्वीकार कर सकते थे, पर यह राज्य करना उनको बहुत कष्टकर लग रहा था।

'जगतके सब समर्थ नरेश युद्धमें मारे जा चुके। सिंहासनोंपर केवल अबोध बच्चे हैं। सबको आदेश, संरक्षण, शिक्षणकी आवश्यकता है। सारे देशोंको एक प्रकारसे शासक-विहीन करके आप किस धर्मका उपार्जन करेंगे?' विदुरने अपने योग्य ही नीतिका निर्देश किया।

'मैं नहीं मानता कि इन रक्त-रंजित द्रव्योंसे सम्पन्न यज्ञ मेरे पापका प्रक्षालन कर देंगे।' पुरोहित धौम्य ऋषिकी अवज्ञा न करके भी युधिष्ठिरने उन्हें मूक बना दिया।

'एक बार आप पितामहके दर्शन करें!' श्याम-सुन्दरने ऐसा प्रस्ताव किया था, जिसकी उपेक्षा नहीं हो सकती थी। वे आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म संग्राम-भूमिमें एकाकी शरशय्या पर पड़े रहें, यह किसी प्रकार उचित नहीं था। धर्मका परम सूक्ष्मतत्व उन ज्ञानमूर्तिके साथ लुप्त होने जा रहा था। उनके उपदेशोंका लाभ हो, इससे अधिक सौभाग्य क्या होगा।

'पितामह इस ओर तो नहीं हैं?' धर्मराजका रथ आगे गया था। भीमसेन, नकुल, सहदेव, महर्षि धौम्य, सात्यकि, द्रौपदी प्रभृति सब रथोंसे जा चुकीं। श्रीकृष्ण-चन्द्रने ही चलनेमें विलम्ब किया। अब वे रथको इस ओर कहाँ ले जाते हैं। अर्जुनको कुछ कुतूहल हुआ। रथ तो निश्चित मार्गसे भिन्न ही दिशामें जा रहा है।

'यहाँ भी कुछ है?' अर्जुनके प्रश नोंका उत्तर आज मिल नहीं रहा है। उनका सारथी पता नहीं किसके चिन्तनमें लीन है। चारों ओर बिखरे शव, उड़ते गृद्ध, मँडराती चीलें, झगड़ते कौवे, भागते शृगाल। यह भूमि भी क्या घूमने योग्य है? लेकिन रथ तो खड़ा हो गया। छिन्न शस्त्रोंने रक्त-कीचको उतरनेके अयोग्य कर दिया है। शव सड़ने लगे हैं। चारों ओर दुर्गन्धि है। क्या होगा यहाँ?

'केशव !' अर्जुन अपनेको रोक न सके। इस कीचमें रथसे कूदते ही श्रीकृष्णके चरण घुटने तक धँस गये थे और वे बिना इधर-उधर देखे चले जा रहे थे। पार्थने अपने सखाका अनुगमन किया।

'चीं, चीं, चीं' यह तो वही टिट्टिभ लगता है! अर्जुनको राजसूयका पक्षी स्मरण आया। पक्षीके कण्ठसे शब्द स्पष्ट नहीं निकलते। वह केवल चंचु खोलकर बोल रहा है। 'युद्धमें आघात लगा होगा।' यह पक्षी श्यामको कितना प्रिय है, इसका वे अनुमान कर सकते हैं। इसीके लिए रथ इधर आया, यह अब पूछनेकी बात नहीं थी।

'पक्षी।' कण्ठ स्वर कह रहा था कि नेत्रोंमें अश्रु हैं। भले पीछे होनेसे पार्थ उन्हें देख न सकें।

'अरे।' अर्जुनने देखा कि श्रीकृष्ण झुककर कुछ उठा रहे हैं। वे आगे बढ़े। एक स्वर्ण घंटा उठाकर पृथक कर दिया गया था और तीन छोटे-छोटे टिट्टिभ शावक फुदककर उन कोमल अरुण करोंपर आ बैठे थे। श्यामसुन्दर उन्हें स्नेहसे पुचकार रहे थे। पक्षी उन्हींके कन्धोंपर बैठा भाव-मूक हो रहा था।

'तुमने इसके लिए घंटा कटवाया था।' अर्जुनने स्वर्ण-घण्ट पहिचाना। जहाँ घण्ट औंधा पड़ा था, कुछ दाने और थोड़ा-सा जल एक छोटे गड्ढेमें भरा था। उस ओर अर्जुनका ध्यान गया ही नहीं।

'पक्षी, तुम अपने शिशु सम्हालो।' पक्षीको कन्धेसे उठाकर उसी हाथपर बैठा दिया उन्होंने। शावकोंने

अपने चंचुसे पक्षीके चंचुका स्पर्श किया। उसके परोंको कुरेदा। उसे आकृष्ट करनेका प्रयत्न किया। लेकिन पक्षी–उसे तो जैसे शावकोंसे कभी कोई सम्बन्ध ही नहीं था। उसके नेत्र तो उन अमल कमलदल नयनोंमें स्थिर हो गये हैं। क्या यह नन्हा प्राणी भी वह सब समझ गया, जो महर्षि भी नहीं समझ पाते ?

'पुरुषोत्तम, अन्ततः आप पधारे !' वह शरशय्यापर पड़ा परम भावुक अपने नेत्रोंसे अश्रु-धारा बहा रहा था। 'करुणासागर, शरीर छोड़ते समय आप मुझे दर्शन देने इस रक्तकर्दममें उतरे।' भीष्मकी दृष्टि चरणोंपर गई।

'पुरुषोत्तम—समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ; सबके प्रतिपालक पुरुषोत्तम, तुम इस नन्हें पक्षीके लिए रक्तकर्दममें उतरे। तुमने उसकी पुकार सुनी।' पक्षी चरणोंके पास भूमिपर बैठा अपनी भाषामें कह रहा था। उसके शावक उसके पीछे फुदक रहे हैं, यह वह देखता ही नहीं। मनुष्य ही नहीं, पक्षीका भी वह पुरुषोत्तम जिसे श्रुति भी 'स उत्तमः पुरुषः' से बार-बार पुकारती है, मन्द-मन्द हंस रहा था।

अस प्रभु दीन दयालु हरि, कारन रहित कृपाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल॥

सर्वभावसे भजन

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।

'तिवारीजी, तनिक रुकिये तो ।' साइकिल चलाना नहीं आता । पीछे बैठकर ही चल रहे थे ।

'क्यों, बात क्या है ?' तिवारीजी उतर पड़े थे ।

'अब तुम जाओ ।' एक कोई काला, मोटा व्यक्ति मैले चिथड़ोंमें लिपटा मार्गपर पड़ा था । वे उसीकी ओर जा रहे थे । वह व्यक्ति हाथ-पैर हिला रहा था, कराह रहा था ।

'कहाँ जाते हो तुम ?' तिवारीको पता है कि अस्पतालवालोंने असाध्य समझकर उसे लेना अस्वीकार कर दिया है । कल दो-तीन मित्रोंके साथ स्वयं वह उसे उठा ले गया था । पता नहीं यहाँ कैसे आ गया । कल तो कुछ फूस बिछाकर एक किनारे लिटा दिया था उसे । 'अब वह मृत्युके निकट होगा । उसके फोड़े सड़ गये हैं ।' मक्खियाँ भिनक रही थीं । कपड़े गीले, चिपचिपे हो रहे थे । दुर्गन्ध आ रही थी ।

'मेरे पुरुषोत्तम मुझे पुकार रहे हैं ।' बिना पीछे देखे वह उस रोगीके पास जा बैठे ।

'तुम उसकी कोई सहायता नहीं कर सकते ।' तिवारी दूर ही खड़े खीझ रहे थे । यहाँसे भी उस दृश्यसे

उनका जी मिचलाने लगा था। 'वहाँ उत्सव प्रारम्भ भी हो गया होगा।'

'मैं नहीं आ सकूँगा।' वह तो उठकर नलकी ओर चल पड़े। 'तुम मेरी प्रतीक्षा करोगे तो विलम्ब ही होगा।'

'अच्छी बात, मुझे भी मेरे पुरुषोत्तम पुकारते हैं।' तिवारीने साइकिल मोड़ी 'इस घृणित मरणासन्नकी अपेक्षा उस स्निग्ध सौन्दर्यमें पुरुषोत्तमकी झाँकी करना मेरे लिए सरल है।' व्यंग और विनोद दोनों थे उसमें।

'तुमने कामको उपासना मान लिया है। पतनका पथ प्रशस्त मत करो अपने लिए।' एक बार अपने मित्रको बड़े स्नेहसे चेतावनी दी उन्होंने। उनका यह मित्र—तिवारी एक लड़कीके सौन्दर्यका उपासक बनना चाहता है। वह कहता है—'सौन्दर्यमें भगवान हैं।' मूर्ख कहींका, केवल वहीं भगवान्‌का सौन्दर्य है क्या? इस रोगीमें उनका सौन्दर्य क्या कहीं चला गया? अनेक बार उसे समझाया; परन्तु वासना सदा विचारहीन होती है।

'क्यों उसमें पुरुषोत्तम नहीं हैं क्या?' तिवारी अपने अनुकूल तर्कको छोड़ क्यों दे?

'मैं कहाँ कहता हूँ कि नहीं हैं, पर वहाँ वे अपनी क्रीड़ामें निरपेक्ष हैं।' उसने रोगीकी ओर देखा। 'यहाँ उन्होंने ऐसा खेल किया है, जिसमें उन्हें हमारी अपेक्षा है। हमें पुकारते हैं वे। विश्वास न हो तो उस बच्चेको तनिक छूकर देखो।'

'वह मेरे ऊपर धूल फेंक दे और तुम हँसो ! मैं उत्सवमें जा भी न सकूँ !' एक तीन वर्षका बालक पासमें धूलिके घरौंदे बनानेमें लीन था। वह अपने अङ्गोंपर धूल डालता और मुट्ठी भरकर धूल इधर-उधर उड़ाता जा रहा था। 'कहीं उसकी माता झगड़ालू हुई तो गालियाँ ऊपरसे सुननी पड़ेंगी।' अच्छा ही हुआ। यदि सचमुच वह बच्चेको तनिक छू देता तो उसकी सबपर जादू-टोनेका संदेह करनेवाली माता उसके पूर्वजोंका, पत्ता नहीं, कबतक पञ्चममें स्मरण करती।

'बच्चेमें भी तो पुरुषोत्तम ही हैं।' उन्होंने नलके जलसे अपना रूमाल भिगा लिया था। न रोगीके पास कोई टूटा-फूटा टीनका बरतन था और न उनके पास। जलकी कुछ बूँदें भीगे वस्त्रमें ही आ सकती हैं। 'उस बालिकाकी रुचि और उसके माता-पिता तथा समाजकी चिन्ता छोड़ तुम उसे अपदस्थ एवं लज्जित करनेके प्रयत्नमें हो और यही है तुम्हारी उपासना ! सर्पकी चमक देखकर उसे गलेमें डालने जा रहे हो तुम।'

'तुम इसका कौन-सा कष्ट दूर कर लोगे ? क्या सेवा करोगे ?' अपनी आलोचना सभीको क्षुब्ध करती है। 'यह भिक्षुक कहीं मर गया तो पुलिस उलटे तंग करेगी। व्यर्थमें कोतवालीकी दौड़-धूप सिर आवेगी।' तिवारीकी चेतावनी अकारण नहीं थी। रोगी अब कोई अङ्ग हिला नहीं रहा था। अनेक बार ये भिक्षुक अच्छी खासी रकम वस्त्रोंमें छिपा रखते हैं। पुलिस उस व्यक्तिको तंग किये बिना कैसे रह सकती है, जो मृत भिक्षुकके समीप देखा गया हो।

'मुझे सेवा करनी कहाँ है। सेवा अपेक्षित भी किसे है।' रूमाल एक बार निचोड़कर फिर धो दिया गया। 'शरीर तो नष्ट होगा ही, पीड़ा सबके प्रारब्धका फल है। जीव अपने कर्म-फल भोगेगा। मैं तो पुरुषोत्तमके समीप आया हूँ। वे मुझसे अपनी इस क्रीड़ामें जो सहयोग चाहते हैं, उतना देने। उन्हें सेवा कहाँ चाहिये। पुलिसने बुलाया तो खेल तनिक लम्बा हो जायगा। रस उतना अधिक आवेगा।'

'मैं कहता था न कि वह मरनेवाला है।' रूमालके जलकी बूँदें मुखमें रह गयीं। नेत्र उलट गये। रोगी शान्त हो चुका था। 'अब चलो जल्दी।' तिवारी चाहे जितनी शीघ्रतामें हो, वह मित्रको छोड़कर जानेमें प्रारम्भसे हिचक रहा था।

'मेरा जल तो मेरे पुरुषोत्तमने स्वीकार कर लिया।' कोई व्यग्रता नहीं दिखायी उन्होंने। 'तुम थानेपर सूचना देते जाओ। मैं यहाँ शवकी रक्षा करता हूँ कुत्तों और पक्षियोंसे। पुलिस देख ले तो इसे ठिकाने लगा दूँ!'

'तुम बैठो, मैं अभी लौटता हूँ।' तिवारी जानता है कि उनका यह हठी मित्र हटेगा नहीं। अब उत्सवमें जाना सम्भव नहीं। एक मृतको जब ठिकाने लगाना है, तब इस कार्यको प्राथमिकता तो देनी ही पड़ेगी। 'मैं वस्त्र ले आऊँगा और मित्रोंको बुलाता आऊँगा।' चार आदमी भी न हों तो शव उठेगा कैसे।

'जहाँतक हो, शीघ्रता करो।' तिवारीने केवल हाथ हिलाकर साइकिलसे सूचित किया कि वह पूरा प्रयत्न करेगा। है भी वह कर्मठ और उत्साही।

(२)

सृष्टिके जो सुरभित सुरंग सुकुमार सुमन,
श्याम! सब तेरी अलकोंमें उलझा दूँ आज!'

सघन नीलाभ लतिकाके ऊपर गुच्छे-के-गुच्छे वृन्तोंपर खिले छोटे-छोटे उज्ज्वल जुहीके पुष्प, प्रभातमें पूरी पंक्ति ऐसी दीखती है, जैसे नील नभ तारकोंसे भर गया हो। 'अलकोंको सजा देनेमें सम्भवतः अच्छा अनुप्रास होता, पर ये नन्हें, मृदुल उजले कुसुम तो उलझने ही योग्य हैं। काली, चिकनी, घनी घुँघराली अलकें और उनमें ढेर-के-ढेर सुमन उलझा दिये जायँ—सृष्टिके समस्त सुरभित, कोमल, सुरंग सुमन। प्रातः वायु-सेवनका थोड़ा-सा व्यसन है और उस समय मलयमारुतके स्पर्शसे झुकते, झूमते, मचलते ये यूथिका-कुसुम सहज ही एक दिव्य भाव मनमें भर देते हैं।

'बेचारा कोई पुष्प बचा क्यों रहे। सब सार्थक हो जायँ।' हाथ एक पुष्प तोड़नेको बढ़ा और दलको स्पर्श करके हट गया। 'मैं कितने चयन कर सकता हूँ।' उसे लगा कि सब सुमन उन अलकोंमें ही तो उलझे हैं। मलय-मारुत उन्हींको व्यजन कर रहा है। लतिकाएँ उन्हींकी हिलती अलकें हैं और यह स्नानके सीकर उनपर बिखर गये हैं। गगनमें गुलाल बिखरने लगी थी।

नीराजनका महादीप क्षितिजसे उठने ही वाला है। यह सब एक आराधना है उन पुरुषोत्तमकी।

'कविता फिर कर लेना, अभी तो उत्सवमें चलो।' साइकिलकी घंटीने तभी ध्यान भंग कर दिया। तिवारी इतना शीघ्र आवेगा, यह उन्होंने सोचा ही नहीं था।

'लौटनेमें बारह बजेंगे! तुमने स्नान किया है या नहीं।' तिवारीको अपनी उत्सुकता थी। उसे संगीतमें आनन्द आता है। आज एक कला-पूर्ण नृत्य है और सबसे बड़ी बात यह कि उत्सवका केन्द्र वह है, जिसे देखनेको उसके नेत्र सदा उत्कण्ठित रहते हैं। उसीकी वर्षगाँठ जो है।

'मैं फूल तोड़ देता हूँ। अपने भजन-पूजनसे निश्चिन्त बनो झटपट।' वह जानता है कि डेढ़ घण्टेसे कम उसके मित्रको अपने खटरागमें न लगेंगे। उत्सव सात बजेसे है और इसीसे वह पाँच बजे आ पहुँचा यहाँ। मनमें एक झिझक है। उत्सवमें वह तभी अपनी कविता सुना सकेगा, जब यह मित्र प्रस्ताव करे। स्वयं प्रस्ताव किया न जायगा और कविता सुनानी ही है। कितने श्रमसे एक सप्ताहकी काट-पीटके पश्चात् इस कविताकी पंक्तियाँ स्थिर कर पाया है।

'यहाँ भजन ही तो कर रहा था।' उन्होंने दृष्टि उठायी। बाधा पड़नेका कोई क्षोभ नहीं आया मुखपर।

'तब तो वहाँ भी भजन कर सकते हो!' तिवारी हँसा।

'मेरी रुचि संगीतमें नहीं है। नृत्यकी मुझे परख नहीं। कविता-पाठ भी केवल विवशतः सुनना है।' उन्होंने तो कल कह दिया था कि उत्सवमें जानेकी इच्छा नहीं है। यह तिवारी मानता जो नहीं। 'वहाँ पुरुषोत्तमको उन व्यक्तियोंकी अपेक्षा है जो कलाके पारखी हों। उनकी प्रशंसा कर सकें। मैं तो इन कुसुमोंकी कलापर ही मुग्ध हूँ।' नेत्र उन ढेर-के-ढेर फूलोंसे हटते ही नहीं थे।

'कवितामें मत बोलो। चुपचाप अपना नित्यका बखेड़ा निपटा डालो।' कोई विश्वविद्यालयका छात्र इस प्रकार नाक दबाने और चन्दन घिसनेमें लगा रहे तो सहपाठी उसके कामको खटराग, बखेड़ा आदि तो कहेंगे ही। 'तुम्हें भोजन वहीं करना है। वह तुम्हारे भजनसे एक मात्रा बड़ा जो है।'

'उसी एक मात्राने, भोग-बुद्धिने उसे विकृत कर दिया, नहीं तो है वह भी भजन ही। प्रसाद-ग्रहण करनेकी भावना भर आ जाय।' इसकी अपेक्षा इस समय नहीं थी कि साथी कुछ समझता भी है या नहीं। वे जैसे अपने-आपसे बात कर रहे हों 'तुमको मेरी आवश्यकता है; तुम्हारी हठ तो रखनी पड़ेगी। चौकीदारी जो करनी है।' मित्रपर जो आजके कालेज-जीवनका सहज उन्माद चढ़ा है, उससे उसकी रक्षा करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं। उत्सवमें आशङ्का कुछ नहीं; किंतु उसे प्रभावित करना है तो उसके आग्रहकी रक्षा करके उसका स्नेह भी पाना पड़ेगा।

'चौकीदारीमें तो बाधा नहीं, पर उस दिनकी भाँति कोई उत्पात न कर बैठना। सचमुच वैसा कोई काण्ड हो जाय तो कितनी घृणा मिलेगी लोगोंसे।'

'वह तो पुरुषोत्तमकी अर्चा थी। ऐसी ही पूजा वह चाहे तो क्या उसे मैं अस्वीकार कर दूँगा!' उस दिन एक कीर्तन-मण्डली आयी थी चौधरीजीके यहाँ। दोनों मित्र निमन्त्रित थे। मण्डलीका कीर्तन, संगीत सब बड़े सुन्दर थे। उसका वह युवक, मस्तकपर एक लाल ऊर्ध्व रेखा। वह दोनों हाथ उठाकर नाचने लगा था। नेत्रोंमें अश्रु तो न आये, परदो बार मूर्छाका नाटक चला। बार-बार लड़खड़ाना, धक्के देना उन्हें कुछ खटका। कीर्तनमें व्याघात हो रहा था। बड़े जोरसे एक थप्पड़ मार दिया था उसे। बेचारेके कपोलोंपर पाँचों अँगुलियाँ उठ गयीं। पाँच मिनट गड़बड़ हुई और फिर सब कीर्तनमें लग गये।

'वह तुम्हें अबतक कोसता होगा।' ऐसी अर्चासे भगवान् बचायेका भाव स्वरमें आया।

'तुमने देखा उसके कपोलोंके चिह्न और नेत्रोंके अरुणभाव, शरीर, मन और जीवतक तो तुम्हारी बात ही ठीक है।' तिवारीको पता है कि उसका मित्र पता नहीं कब कौन-सा दर्शन छाँटने लगता है। वह दर्शनशास्त्र क्या पढ़ने लगा, दार्शनिक ही बन गया 'पुरुषोत्तमकी तो आराधना ही हुई। दम्भ दूर होनेपर वह पुरुषोत्तमके अधिक निकट बननेयोग्य हुआ।'

'आज तो दया करना।' तिवारीको यह दर्शन बड़ा दुर्दर्श लगता है। उसे तो शीघ्रता है। 'सवा पाँच तो

बज गये। तुम अब आज सब अर्चा यहीं पूरी कर लो।'

(३)

'देखिये, रोगीसे कहनेकी बात नहीं है।' डाक्टरने तिवारीको बाहर एक ओर बुलाया। 'उसके घर तार दे दीजिये। कंधे छिल गये हैं और उनमें होकर विष पूरे शरीरमें प्रविष्ट हो गया है। मैं शक्तिभर प्रयत्न कर रहा हूँ, फिर भी कोई अच्छी आशा नहीं है।' इन्जेक्शन वे दे चुके थे। फीस मिल गयी थी। मोटरका द्वार खोले ड्राइवर खड़ा ही था।

'विष प्रवेश कर गया है!' तिवारीने मस्तक झुका लिया। किसे तार दे वह। उसके मित्रके पिता सेनामें हैं। इधर उनका कोई पत्र आया नहीं। घरपर इनके दूसरा कोई है नहीं। इस बंगलेसे भिन्न कोई घर ही नहीं है, कहें तो भी ठीक ही है। जन्मभूमिपर क्या है, तिवारीको पता नहीं, पर उनके पिता जब अवकाश पाते हैं, यहीं ठहरते हैं। कभी ये लोग घर गये नहीं। 'यहाँ अब कौन इनकी रक्षा करेगा?' उसके पास भी तो इतना अधिक रुपया नहीं कि बड़े डाक्टरको लगा सके।

'ये पुलिसवाले बड़े मूर्ख होते हैं।' कल दरोगाने कितनी देर की व्यर्थ झक-झक करनेमें। उसे आशा थी कि भिखारीके पास कुछ उसकी जेब गरम करनेको निकलेगा। व्यर्थमें रोब जमाने लगा। वह तो कांग्रेस-मन्त्री परिचित थे और संयोगसे आ गये, नहीं तो, पता नहीं कितना

तंग करता। सबोंने शवको देखने और नदीमें डालनेकी अनुमति देनेमें ही दस बजा दिये। सब मित्र उत्सवमें जा चुके थे। वहाँ जाकर यह बात कहना मूर्खता होती।

'यह भी तो दुराग्रही है।' उसकी एक बात मानी न गयी। भिखारीको पुलिस वाले हटवा ही देते। उतना भारी शव अकेले कंधोंपर उठाये नदीतक जाना और वह भी ज्येष्ठकी दोपहरीमें। पता नहीं कंधे रस्सोसे छिले या और कोई कारण हुआ। ज्वर तो आना ही था। उस धूपमें इतना दुर्गन्धित शव ढोना, थकना, पसीनेसे भीगे होनेपर स्नान करना कोई बुद्धिमानी थोड़े ही थी।

'तिवारी !' भीतरसे रोगीने पुकारा। कण्ठ शिथिल, पर आकुलता-हीन था। 'थोड़ा पानी !' ज्वरके कारण गला सूखता जाता था। ज्वरकी तीव्रतासे यदि बार-बार अवसाद—मूर्छा-सी न आती तो प्यास बहुत कष्ट देती।

'भाई !' जलकी दो घूँट देकर तिवारी उसी चारपाईपर बैठ गया। उसने मस्तकपर हाथ रक्खा। वह तवेकी भाँति तप्त हो रहा था। नेत्र पता नहीं किस प्रकारके लग रहे थे। उसे लगा, मुखपर हल्की नीली नसें झलकने लगी हैं।

'पुरुषोत्तम प्रसन्न हैं। उन्होंने कुछ विश्राम दिया है मुझे !' रोगीके नेत्र बन्द थे। 'देखो न उनके सान्निध्यने प्राणोंतकको उष्णता दी है ! कितना अच्छा है यह तप !' जैसे कोई उपहार मिला हो।

'तुम्हें पिताजीका पता ज्ञात है?' तिवारीने मुख फेरकर अश्रु पोंछ लिये।

'क्यों, उनको पत्र लिखने-जैसी तो कोई बात नहीं है।' रोगीने नेत्र खोले 'तुम इतने घबराये क्यों हो? मुझे तो कोई कष्ट जान नहीं पड़ता।' जिसे आश्वासनकी अपेक्षा थी, वही आश्वासन दे रहा था।

'सचमुच तुम्हें कोई कष्ट नहीं है?' तिवारीको आश्चर्य हुआ। उसका मित्र कभी असत्य नहीं बोलता। क्या उसको भुलावा दिया जा रहा है?

'यों तो मस्तक, कटि, पिंडलियाँ और प्राय: सभी नसें फटी जा रही हैं!' शब्द और मुख इस वेदनाको तनिक भी प्रकट नहीं कर रहे थे 'पर मुझे बड़ा अच्छा लगता है। सबेरे प्राणायाममें भी तो कुछ कष्ट होता ही है। पुरुषोत्तम स्वत: सबको स्पर्श कर रहे हैं। ये विकृत अङ्ग उनके स्पर्शसे झनझना रहे हैं, स्वच्छ हो रहे हैं। बड़ा अच्छा हो रहा है।' नेत्रोंमें बच्चोंकी भाँति उल्लास झाँक रहा था।

'कल तुमने मेरी बात स्वीकार नहीं की।' तिवारीका कण्ठ आगेकी बात कैसे कहे। उसके नेत्र बार-बार भर आते थे।

'तुम उलटी बात सोचते हो।' रोगीने धीरेसे उसका हाथ अपने हाथमें ले लिया। 'कल ही तो ठीक-ठीक पुरुषोत्तमकी पूजा हुई। उन्होंने एक काम बताया और हम दोनोंने पूरा किया। आज तो उसका पुरस्कार मिला

है। मुझे कितना अच्छा लग रहा है। यह तुम समझ नहीं पाते हो!'

'डाक्टरने कहा है' कण्ठ फिर असमर्थ हो गया। नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे। उन्हें रोकनेके बदले वह रोगीसे लिपट गया।

'उसे बकने दो। वह कहता होगा कि टाइफाइड हो गया या ऐसा ही कोई बड़ा रोग।' रोगी हँस पड़ा। 'उसे कीटाणु ही दीखते हैं। वह नहीं देखता कि मनुष्य स्वयं सबसे भयंकर कीटाणु है। मुझे कोई रोग नहीं है।'

'वह बहुत भयंकर बात कह रहा था।' तिवारीने मस्तक उठाया नहीं।

'बहुत लंबी बीमारी चलेगी, टी० बी० हो जायगा—ऐसा ही कुछ अंटसंट।' रोगीको कोई चिन्ता नहीं थी। 'सब झूठी बात है। पुरुषोत्तम जो चाहते हैं, उससे तनिक भी अधिक नहीं। वह तो अपनी कृपाका प्रसाद दे रहे हैं।'

'रक्तमें शवका विष प्रविष्ट हो गया है।' हिचकियाँ लेते हुए बात पूरी हुई 'वह शक्तिभर प्रयत्न ही कर सकता है…।'

'पर आशा नहीं है। यही तो?' रोगी वाक्य पूरा करके खुलकर हँसा। 'इसमें रोनेकी क्या बात है। वह मुझे अपने समीप बुलायेंगे—यह तो आनन्दकी बात है।'

'भाई, मुझे नहीं लगता कि मेरी सेवा इतनी महान् है कि इतना बड़ा पुरस्कार पा सकूँ।' रोगी दो क्षण रुककर गम्भीर हो गया। 'उनकी दया किसीकी सेवा

नहीं देखती। वह ऐसी कृपा भी कर ही सकते हैं कि ।' शब्द भावमें विलीन हो गये। बंद नेत्रोंकी पलकोंमें उज्ज्वल सीकर झाँकने लगे थे।

(४)

'तुम भाग नहीं सकते और न तुम्हें भागना चाहिये!' स्वरमें गम्भीरता थी। 'तुम्हें अपमानने क्षुब्ध कर दिया है। शान्त होनेपर देखोगे कि तुम्हारी ही भूल थी।'

'तुमने कैसे जाना कि मेरा अपमान हुआ है!' तिवारीको आश्चर्य हुआ। वह अपमानित तो हुआ है, पर वहाँ तीसरा तो कोई था नहीं। यहाँ तो उसके क्षोभने दूसरा ही बहाना बनाया। वह अब पढ़ नहीं सकेगा! पढ़नेमें मन लगेगा नहीं। इस नगरसे कहीं दूर-भाग जाना है उसे। दूर जाकर ही हृदयकी व्यथा भूली जा सकेगी।

'जैसे मैंने जान लिया था कि मुझे मरना नहीं है!' हँसी आ गयी उन्हें। रोगने छोड़ दिया, पर शरीर अब भी दुर्बल है। बहुत धीरेसे उठकर बैठ गये। 'सेवा इस प्रकार नहीं होती। सेवाके लिए पहले हृदयमें उसका भाव आता है। तुम यह रोष लेकर जहाँ जाओगे, वहीं क्षोभ उत्पन्न करोगे!'

'मैं मानता हूँ कि अधिक बार तुम्हारे अनुमान ठीक होते हैं!' तिवारीने देखा है कि उसका दार्शनिक मित्र औषध, काव्य, राजनीति–सब विषयोंमें सदा धाराप्रवाह बोलता है और जब भी उसने कोई अनुमान किया—वह

प्राय: ठीक निकला। 'पर तुम सब कुछ जानते हो ऐसी बात तो है नहीं।' उसे अपमानकी बात स्वीकार जो नहीं करनी है।

'सर्वज्ञ तो योगी ही होते हैं। लेकिन जो पुरुषोत्तमको जानते हैं—उसके सम्बन्धमें प्रमाद नहीं करते, वे 'सर्वविद्' तो हो ही जाते हैं। सबका तथ्य, स्वभाव, परिणति उनपर स्पष्ट रहती है!' वे कहते गये अपने क्षीण स्वरसे 'पुरुषोत्तम ही सबके मूल जो हैं। उन्हींका सबमें प्रकाश है। सब उनसे भिन्न कैसे रहेगा। मेरी इतनी क्षमता कहाँ; पर तुम्हारे सम्बन्धमें मैं भूल नहीं कर रहा हूँ।'

'तब तो तुम्हें प्रोत्साहित करना चाहिये मुझे!' तिवारीको एक मार्ग मिला 'मैं सबकी सेवा करके तुम्हारे पुरुषोत्तमकी ही सेवा करने जा रहा हूँ।'

'पुरुषोत्तम सब होकर भी सब नहीं है! तुम उनकी सेवा करो तो अपनी सेवा भी करोगे और सबकी सेवा भी!' उन्होंने समझानेका प्रयत्न किया 'यह सब नश्वर जड़ जगत् तो उनमें है, वह इसमें होकर भी नहीं। इस विनाशीसे परे वह अविनाशी जीवके अकारण मित्र हैं। तुम उन मित्रपर विश्वास करो तो भागनेकी आवश्यकता न हो। वह तुम्हें शान्ति देंगे। अपमान भी उन्हींका उपहार है; क्योंकि तुम जहाँ उन्हें वासनासे देखते थे, उन्होंने एक स्नेहकी चपत लगा दी है। जहाँ वह चाहते हैं, पुकारते हैं, उन्हें देखो।' सचमुच एक हल्की चपत उसे लग गयी।

'मुझसे तुम्हारी पूजा-पाठका यह खटराग तो होगा नहीं !' तिवारीको शान्तिकी सचमुच इस समय आवश्यकता थी। वह देख चुका था कि उसका मित्र कितने कष्टमें प्रसन्न रहा है। बाहर जाकर भटकनेका कष्ट सम्मुख है। यदि कहीं कोई मार्ग निकल आवे।

'मैं कहाँ कहता हूँ कि तुम पूजा ही करो !' उन्होंने उसकी पीठपर इस प्रकार हाथ रक्खा, जैसे वह कोई बच्चा हो। 'यह दूसरी बात है कि तुमसे स्वतः पूजा किये बिना रहा न जाय !' हँसे वे।

'मैं सचमुच बहुत दुखी हूँ।' तिवारीने अपनेको स्पष्ट किया। 'यदि तुम मुझे कोई ठीक उपाय नहीं बतलाते तो दूर चले जानेके अतिरिक्त मेरे सम्मुख कोई मार्ग है नहीं !' जानेके लिए पूछना आवश्यक नहीं था, पर अभी इनमें इतनी शक्ति नहीं आयी कि बाजारतक भी जा सकें। पूरी बीमारीमें दिनरात एक करके जिसकी शुश्रूषा की है, उसे इस दुर्बलतामें छोड़ जानेको जी नहीं चाहता था।

'आवश्यकता केवल यह है कि पुरुषोत्तमको ठीक-ठीक समझो !' उन्होंने मार्ग बतलाया। 'कभी उन्हें जड़ जगत्के विषय और कभी विषय-लुब्ध जीवके रूपमें मत लाओ। ठीक प्रकारसे सोचो। अपनी वासनाओंसे विचारको उन्मुक्त करो। पुरुषोत्तमको पहचाननेमें जहाँ प्रमाद करोगे, वहीं अशान्ति आयेगी। अपनेको सदा सावधान रक्खो। कभी मूर्ख मत बनो।'

'तुम्हारा यह दर्शनशास्त्र अनेक बार सुना है मैंने !' यद्यपि स्वरमें कोई उत्साह नहीं था, पर वह आज ही

गम्भीरतासे सोच रहा था। 'केवल सोचना और विचार करना ही है या कुछ करना भी है ?'

'प्रमादहीन होकर पुरुषोत्तमको जान लेना ही पर्याप्त है।' उन्होंने अनुभव किया कि 'यह प्रमादहीन होना बहुत सरल नहीं है; परंतु तुम उनका नाम बराबर लेते रहनेका अभ्यास कर लो तो स्वतः उनका स्मरण रहेगा।' बात समझमें आने योग्य है। जिसका नाम लेंगे, वह स्मरण आवेगा। स्मरण आता रहे तो प्रमाद कहाँसे रह सकता है।

'मैं प्रयत्न करूँगा !' तिवारीने निश्चय किया। जब एक बार कोई बात स्थिर कर ली, तब उसे करनेमें उसे कभी कठिनाई नहीं हुई। 'एक सप्ताह तुम्हारी युक्ति भी कर देखना है।'

'प्रयत्न करूँगा ? नटखट कहींके !' वह लेटते-लेटते स्वतः कह रहे थे। 'यह क्षोभ, रोष, सेवाका स्वाँग करके अब साधनाका स्वाँग करोगे, सो सीधे क्यों नहीं कहते !' दृष्टि द्वारकी ओर जाते तिवारीपर लगी थी और हृदय कह रहा था 'पुरुषोत्तम ! पुरुषोत्तम !' वाणीने हृदयके स्पन्दनको कुछ क्षणोंमें ही कीर्तन बना लिया।

बुद्धिमान–कृतकृत्य

'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

'एक मनुष्य ही इतना मूर्ख होता है' शुकने अपनी चोंचसे अपने पंखोंको खुजलाते हुए कहा—'हम पक्षी और पशु भी इतने अज्ञ नहीं होते कि अकारण स्वजातिका ऐसा महासंहार आयोजित करें।'

'आज तुमको क्या हो गया है?' शुकी उससे सटकर बैठ गयी। उसने शुककी गर्दन अपनी चोंचसे सहलायी। 'तुम इतने उत्तेजित क्यों हो? मनुष्य सदासे बहुत झगड़ालू है। वह अकारण अपना और दूसरोंका भी संहार आयोजित करता रहता है। अब तुम उधर मत जाना। अपने लिए इधर पर्याप्त फल वनमें हैं और खेतोंमें शालि भी पक रहा है।'

'मैं आहारकी चिन्ता नहीं करता। मैं आहारकी खोजमें उधर गया भी नहीं था।' दो क्षण शुक रुका— 'अकस्मात् रथ हाथी-घोड़ोंका समूह, योजनों तक मनुष्योंकी भीड़ और सब शस्त्र-सन्नद्ध—यह देखकर मुझे कुतूहल हुआ और मैं उस समूहके बीचमें खड़े एक रथपर जा बैठा।'

'ओह ! तो तुम झगड़ते मनुष्योंके मध्य चले गये थे ?' शुकी काँप उठी—'झगड़ते समय पशु-पक्षी भी भयंकर होते हैं और मनुष्य तो वाण चलाते हैं, धड़ाके करते हैं। वे तो महासंहारक बन जाते हैं।'

'वे तब तक लड़ नहीं रहे थे। लड़नेकी योजना बना रहे थे।' शुकने कहा—'मनुष्य लड़नेकी भी योजना बनाते हैं। वे केवल क्रोध आनेपर ही नहीं लड़ते। लेकिन वह रथ जिसपर जाकर मैं बैठ गया था, अद्‌भुत था। उसमें हमारे पंखोंके रंगके अश्व जुते थे। ऐसे अश्व धरा-पर मैंने आज ही देखे। मुझे थोड़ा सावधान बैठना पड़ा; क्योंकि उस रथकी ध्वजापर एक महाभयंकर वानर बैठा था। वह कभी भी मेरी ओर हाथ बढ़ा दे सकता था; किन्तु उसने मुझे देखा नहीं। वह एकटक रथके सारथिको देख रहा था। वह सारथि—उस नीलसुन्दर सारथिको देखकर तो मैं भी सब कुछ देखना भूल गया। वह भयंकर ज्याघोष मुझे चौंका न देता तो मैं उड़ना भूल ही चुका था।'

'चलो !' शुकी रूठकर थोड़ी दूर हट गयी—'इन मनुष्योंके समीप जाकर तुम भी इनके समान झूठ बोलना सीख गये हो। हमारे परोंके रंगके अश्व होते हैं, झगड़ते मनुष्योंके रथपर वानर बैठता है और वह भी चुपचाप शान्त और मनुष्य इतना सुन्दर है कि उसे देखकर वानर और शुक भी अपने आपको भूल जायँ–यह सब है ?

'तुमने उस रथको देखा नहीं। उसका सारथि—वह उस रथपर बैठा था, यह ठीक; किन्तु वह तो

विश्वात्मा है।' शुकने न तो शुकीके दूर हटनेपर ध्यान दिया, न उसके रूठनेपर—'यह सब संसार, इसका सब रूप वही बना है। वही ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ तरु है और वही हमारे तुम्हारे सबके भीतर बैठा पुरुषोत्तम है। मैंने उसे अपने रथीको उपदेश करते सुना है। उसकी वाणी—वह अमृतकी, ज्योतिकी वाणी जिन श्रवणोंमें पड़ी, धन्य हो गये वे श्रवण। अन्धकार नष्ट हो गया उस हृदयका।'

'तब तुम उसीके समीप जाओ!' शुकी सचमुच रूठ गयी। उसने पंख फैलाये दूसरे वृक्षपर उड़ जानेके लिए; किन्तु यह देखकर कि शुकका ध्यान अब भी उसकी ओर नहीं है, चिन्तामें पड़ गयी। उड़नेके स्थानपर शुकके समीप खिसक आयी।

'कितना चाहता हूँ कि फिर वहीं—उसी रथपर जा बैठूँ; किन्तु मनुष्योंने लड़ना प्रारम्भ कर दिया है। उनके सहस्र-सहस्र शर दिशाओंमें सनसनाते छूट रहे हैं। इतनी दूर बैठे भी उनके धड़ाके सुनायी दे रहे हैं। अब वहाँ जाया नहीं जा सकता।' शुकने नेत्र बन्द कर लिये थे। वह जैसे अपने आपसे कह रहा था 'लेकिन तुम अब अपने लिए कोई अन्य शुक ढूँढ़ लो। मैं किसी ऋषिके आश्रम जाऊँगा। मुझे उस नीलसुन्दर सारथिकी सन्निधि कोई ऋषि ही दिला सकते हैं, यह मेरा मन कहता है।'

'तो चलो!' शुकीको क्षण भर भी सोचना नहीं पड़ा। ऋषियोंके आश्रमोंमें किसीके लिए कोई भय नहीं

होता। तुम अपने उस सारथिके पालतू बनोगे तब मैं भी तुम्हारे साथ उसके पिंजड़ेमें रह लूँगी।

× × ×

'यह सब अश्वत्थ है। इसका मूल है नीलसुन्दर सारथि। वही अन्तर्यामी पुरुषोत्तम है। तुम इसे रटो। व्यर्थ क्या पढ़ते हो ?' वनमें फल-पुष्प लेने आये ब्रह्मचारी यह बात सुनकर चौंक गये। उन्होंने इधर-उधर देखा।

'यह तो शुक है।' वृक्षपर बैठा पक्षी युगल छिपा नहीं रहा। शुक बार-बार अपनी बात दुहरा रहा था।

'पक्षी ! तुम हमारे आश्रममें आ जाओ।' एक छोटे ब्रह्मचारीने कहा--'गुरुदेव तुमसे स्नेह करेंगे। उन्होंने तो अपने तनयका नाम शुक रखा—कहीं उनके वे लोक-पूजित पुत्र आज आश्रममें होते।'

'क्या हुआ उनको ?' शुकने पूछा।

'वे तो उत्पन्न होते ही वीतराग होकर वनमें चले गये। उनके पीछे विक्षिप्तप्राय गुरुदेव उन्हें पुकारते गये; किन्तु जातकर्म-संस्कारसे पूर्व ही वे वनमें गये और लौटे नहीं।' ब्रह्मचारीने बतलाया।

'अब तक नहीं लौटे ?' शुक बोला—'मैं उन्हें ढूँढ़ सकता हूँ। मेरे पक्ष क्या काम आवेंगे।'

'एक बार लौटे थे। थोड़े समय रहे। गुरुदेवसे भागवत पढ़ी और चले गये।' ब्रह्मचारीने कहा—'वे परम वीतराग लौट नहीं सकते। उन्हें तो एक श्लोकने लौटाया था।'

'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्ती च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

'वही-वही है।' शुक चहका ब्रह्मचारीका श्लोक सुनकर—'क्या हुआ कि मैंने उसे कवचधारी सारथि देखा है। वह विश्वतरु, विश्वतरुका मूल, वही पुरुषोत्तम—तुम्हारे गुरुपुत्र सचमुच बुद्धिमान हैं।'

शुक उन ब्रह्मचारियोंके साथ उड़ चला। वैसे वह उनके कन्धेपर, जटापर अथवा करपर भी बैठ सकता था; किन्तु अपने पक्षोंके सहारे चलना ही उसे प्रिय लगा। वह स्वतन्त्र पक्षी; किन्तु अब वह पालतू होनेको, पिंजड़ेमें बसनेको लालायित है, यदि वह नीलसुन्दर सारथि उसे पाल ले। वह देखता ही नहीं कि शुकी भी उसके साथ है।

'पक्षी बुद्धिमान है।' भगवान व्यासने शुकको देखा और अपने अन्तेवासियोंकी बात सुनी—'उसे परम गोपनीय ज्ञान इस तिर्यक्योनिमें प्राप्त हो गया।

श्रीकृष्णकी कृपा अनन्त है और वह किसीको भी कृतार्थ कर सकती है।'

'पक्षी अपने आश्रममें रहने आया है।' सबसे अल्पवयका ब्रह्मचारी बहुत उत्साहमें था—'वह कहीं भी वृक्षपर अपना आवास बना लेगा। हम उसे नीवार दिया करेंगे। उसकी शुकीको भी।'

'वह सम्मान्य है तुम्हारा।' भगवान व्यासने प्रायः सभी विद्यार्थियोंको समझाया--'शरीरका कोई अर्थ नहीं है। उसमें सनातन ज्ञानका उदय हो चुका है। उसकी इच्छा–उसका जहाँ आवास होगा, वही स्थान पुण्यस्थल बन जायगा। उसके योग-क्षेमकी चिन्ता तो उसके पुरुषोत्तमको हो गयी है। तुम्हारे अन्तरमें अन्तर्यामी रूपसे बैठे वे ही सहस्र स्नेहका स्रोत प्रवाहित कर रहे हैं।'

× × ×

'पुरुषोत्तम!' समस्त मुनि-मण्डली चौंकी। कहींसे एक शुकपक्षी उड़कर आया और श्रीकृष्णचन्द्रके करोंपर बैठ गया।

'यह अपने आश्रमका शुक है?' महर्षि व्यासजीके शिष्योंमें परस्पर चर्चा उठी।

'है तो वही; किन्तु इसकी शुकी कहाँ है?' सब इधर-उधर देखने लगे--'इसने उसकी उपेक्षा ही कर

रखी है; किन्तु वह इसकी अनुगता हैं। उसे भी कहीं समीप ही होना चाहिये।'

'तुम आ गये?' श्रीकृष्णचन्द्रने पक्षीको पुचकार लिया। 'मैं तो तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रहा था।'

ये कमललोचन कब कहाँ किसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, किसे पता है। जीव मात्रकी ही तो ये प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कौन कब इनकी शरणमें आता है।

'आप कबसे परिचित हैं इस पक्षीसे?' कुरुक्षेत्रकी भूमिसे जब सायंकाल रथ हस्तिनापुरको विदा हुए भीष्मपितामहको रात्रि-विश्रामका अवकाश देकर तो मार्गमें अर्जुनने अपने सखासे पूछ लिया।

'युद्धके प्रथम दिन जब मैं तुम्हें गीता सुना रहा था, यह तुम्हारे रथपर आ बैठा था।' श्रीकृष्णने कहा-- 'उस गुह्यतम उपदेशको सुनकर प्राणी कृतकृत्य हो जाता है।'

'सो तो यह हो गया।' अर्जुनने साभिलाष देखा शुककी ओर। 'तुम्हारा स्नेहभाजन होकर जीवको कृतार्थ होना क्या शेष रहता है।'

'पुरुषोत्तम!' सहसा एक शुकी उड़कर रथमें और आ गयी। वह श्यामसुन्दरके वाम स्कन्धपर बैठी और फिर उड़कर उनकी गोदमें आ गयी। 'तुम मुझे भी पाल लो!'

'आज मैंने देखा कि अश्व मेरे पंखों जैसे हरिद्रवर्ण होते हैं। ये मेरे शुक ठीक कहते थे--इस रथपर स्वर्णवर्णा बड़ा भयंकर कपि बैठता है।' शुकी चहकती चली जा रही थी--'तुम भुवनसुन्दर हो। तुमको देखकर कुछ देखना शेष नहीं रहता। अपने इस शुकके साथ मैं आनन्दसे तुम्हारे पिंजड़ेमें रहूँगी।'

'ये किसीको बन्धन नहीं देते!' अर्जुनने शुकीकी ओर देखा। अब वह शुकसे सटकर बैठ गयी थी। 'इनका स्वभाव ही प्राणीको बन्धनसे मुक्त करना है।'

'मूर्ख होगा वह जो इनसे मुक्त होना चाहे।' शुकी ही इतना खरा उत्तर दे सकती थी। 'अपने अश्वोंको खोलकर देख लो। उनमें-से एक भी भागनेवाला नहीं है। वह कपि जो रथपर बैठा है, किसीने बाँध रखा है उसे? ये पिंजड़ा नहीं देंगे तो हम दोनों यों ही इनके सदनमें, इनके कक्षमें रहनेको स्थान ढूँढ़ लेंगे। दो नन्हें पक्षियोंको पेट भरने भर इनके सेवकोंका उच्छिष्ट इनके सदनमें सदा पड़ा मिलेगा?'

'तुम दोनों चलो!' श्यामसुन्दर हँसे--'महारानी जाम्बवतीको पशु-पक्षियोंसे अपार स्नेह है। अपने सदनमें तुम्हें देखकर वे बहुत प्रसन्न होंगी।'

'यह शुकी भी उस दिन गीता सुनने मेरे रथपर आ गयी थी?'

'नहीं' शुकी ही बोली—'यह रथ तो मैंने आज देखा है। मनुष्योंके युद्धके मध्य जाते मुझे वैसे भी डर लगता है। ये युद्ध क्यों होते हैं? इन भुवनसुन्दरकी उपस्थितिमें भी युद्ध ! इनके दर्शन, इनकी सेवासे अधिक और क्या है जिसके लिए आप सब युद्ध करते हैं?'

'बहुत बोलती है तू !' शुकने इस बार थोड़ी ताड़ना की चंचु-आघातसे।

'ठीक कहती है शुकी' अर्जुन बोले—'हम सब मूर्ख हैं। इनकी उपस्थितिमें, इनके समझानेपर भी जो नहीं समझ सके, अज्ञानी ही थे वे। इनकी सेवाको छोड़कर जिसे दूसरा कुछ रुचे, वह मूर्ख ही है। पक्षी होकर भी तुम बुद्धिमान हो। कृतकृत्य हो तुम दोनों !'

'शुकीको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ······' अर्जुन अपने सखाकी ओर देख रहे थे।

'शुकके प्रति अनन्य प्रेमके कारण।' श्रीकृष्णने समाधान किया—'जब कोई अज्ञानसे मुक्त हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है वह, और वह भी कृतकृत्य हो जाता है जो उससे सचमुच स्नेह करता है जो उसके प्रति समर्पित है।'

'अज्ञानसे मुक्तिकी बात ज्ञानी जानें।' अर्जुनने कहा—'जो जान गये कि पुरुषोत्तम तुम हो, उनका

हृदय तुममें लगे बिना रह नहीं सकता और जो तुम्हारी प्रीतिमें बँधा--वही बुद्धिमान है। वही कृतकृत्य है। वही मुक्त है।'

'वह भी जो उस बुद्धिमानकी प्रीतिमें सचमुच बँध गया है।' शुकीने शुककी गर्दनपर चोंच रखते कहा।

'तुम ठीक कहती हो।' श्यामसुन्दरने समर्थन किया।

॥ पुरुषोत्तम योग सम्पूर्ण ॥